प्रकाशक :

चांदमल सीपाणी

मंत्री :

श्री जिनदत्तसूरि मण्डल,

दादावाड़ी, अजमेर

□

आवृत्ति-द्वितीय

वीर सं० २५०६

वि० सं० २०३७

अगस्त, १९८०

□

मूल्य रु० पांच

प्रति ५००

□

मुद्रक :

प्रतापसिंह लूणिया

जॉब प्रिंटिंग प्रेस,

ब्रह्मपुरी, अजमेर

समर्पण

नई पीढ़ी के उन

नवयुवकों और नवयुवतियों

को

जिन्हे अंध श्रद्धा में

सतोष नहीं

जो
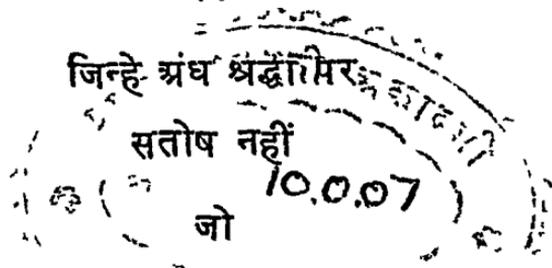
युक्ति, बुद्धि और अनुभवाधारित,

प्राचीन महानाचार्यों

के वचनों को

जानना, समझना और उनसे

प्रेरणा प्राप्त करना चाहते हैं।

□

संशय नवि भांजे श्रुत ज्ञाने, अनुभव निश्चय जेठो,

वाद विवाद अनिश्चित करता, अनुभव विण जाय हेठोरे।

—उपाध्याय श्री यशोविजयजी

कुछ स्वर्ण वाक्य

समता बिन जे अनसुरे,
प्राणी पुण्य ना काम
छार उपर ते लीपणु
झाकर चितराम।

—श्री विनयविजयजी

बाह्य क्रिया करे कपट केलवे, फिर वे मंहत कहावे,
पक्षपात कबहु नवि छोड़े, उनकू कुगति बोलावे,
जब लग समता क्षण नही आवे।

– उपाध्याय श्री यशोविजयजी

दुर्बल, नग्न ने मास उपवासी, जो छे माया रागी रे,
तो पिण गर्भ अनन्ता लेशे, बोले बीजू अग रे।

—उपाध्याय श्री यशोविजयजी

शास्त्राभ्यास, धर्मानुष्ठान, तपस्या, शम इत्यादि अनेक
धर्म अथवा धर्म कार्य, माया के साथ करता है,
उससे तेरे शरीर को कष्ट के सिवाय
भवांतर में कोई फल नही मिलेगा और वे धर्म भी
भवातर मे नहीं मिलेंगे।

—मुनि श्री सुन्दरसूरि (अध्यात्म कल्पद्रुम)

समकितवंत जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल,
अन्तरथी न्यारा रहे, जेम धाय खिलावे बाल।

चारो चरन के कारणे, गौआ वन मे जाय,
चारो चरे, फिरे चहुँ दिशि, वांकी नजर वछुरिया मांहि।

चार पाँच सहेलिया मिलि, हिलमिल पानी जाय,
ताली दिए खड़खड़ हसे, वां*ो नजर गगुरिया मांय ।

—श्री आनन्दघनजी

सघलु पर वश ते दुख लक्षण, निजवश ने सुखलहिये,
एहृष्टे आतभ गुण प्रगटे, कहो सुखने कुण कहिये ।

— उपाध्याय श्री यशोविजयजी

स्वर्ग सुखानि परोक्षाण्यत्यन्त, परोक्षभेव मोक्ष सुखम ।
प्रत्यक्षप्रशम सुख, न परवशं न च व्यय प्राप्तम् ।

—श्री उमास्वाति प्रशमरति ग्रंथ

अनुक्रमणिका

	पृष्ठ
प्रकाशकीय	
आभार	१
प्रस्तावना	
१. अध्यात्म विज्ञान क्या है ?	
२. जैन धर्म की विशेषताएं और उसकी जीवन शक्ति	२१
३. जैन धर्म के प्रति नई पीढ़ी की उदासीनता के कारण	४६
४. जैन धर्म की आत्मा की उपेक्षा के घातक परिणाम	५२
५. जैन धर्म के जगत् कल्याणकारी रूप की उपेक्षा दूर हटाकर स्व-पर कल्याण करिये	६४

संक्षिप्त जीवन परिचय

श्री हरिभद्रसूरि	७३
श्री हेमचन्द्राचार्य	७४
श्री सिद्धर्षि गणि	७६
श्री मुनि सुन्दरसूरि	७९

कर्म विज्ञान—प० सुखलालजी

१. कर्म तत्त्व	८३
२. कर्मवाद की दीर्घ दृष्टि	८३
३. कर्मशास्त्र अध्यात्म शास्त्र का अंश है	८४
४. कर्म का बंधन कब न हो	८६
५. कर्म बंध का कारण	८६
६ कर्म से छूटने के उपाय	८७
७. कर्म सिद्धान्त के विषय मे (डॉ. मैक्समूलर का अभिप्राय)	८८
८. उपसंहार	८९
९. परिशिष्ट–कुछ उद्धरण	९४

पृष्ठ

योग बिन्दु—श्री हरिभद्रसूरि

१. संसार का स्वरूप ९७

२ ऊपर उठने के साधन ९८

अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता, वृत्ति सक्षय

३ उपरोक्त साधनों का प्रभाव–गुण प्राप्ति १०६

४. उपरोक्त साधनों के लिये योग्यता १०७

५. उन्नति के लिये प्रथम पाठ १०९

६ क्रियाओ-अनुष्ठानो के ध्येय मे सावधानी की आवश्यकता १११

७. धर्म अर्थात् आत्म विकास के अधिकारी ११२

८. राग द्वेष की ग्रंथी को काटना ११५

९. सम्यक्त्व ११७

१०. मोक्ष मार्ग अग कोष्टक (Table) ११९ (अ)

११. उपसंहार १२०

१२. परिशिष्ट (१) आत्मा की अवस्थाएं १२८

१३. परिशिष्ट (२) योग १३२

योग शास्त्र—श्री हेमचन्द्राचार्य

१. योग अर्थात् आत्मा के विकास का मार्ग– १३७

(श्री हेमचन्द्राचार्य योग शास्त्र की भूमिका)

२. मोक्ष प्राप्ति का मार्ग १४७

३. व्रत पालक के प्राथमिक गुण तथा व्रत १४८

४. व्रत नियमो का ध्येय १५०

५. व्रत किसको फलदायक होते हैं ? १५०

६ उपसहार १५१

योग शतक—श्री हरिभद्रसूरि

१. योग—निश्चय दृष्टि और व्यवहार दृष्टि १५७

पृष्ठ

२. योग का अनाधिकारी १५७
३. योग (प्रगति मार्ग) का अधिकारी १५८
४. उन्नति का कक्षा क्रम १५९
५. उपदेश, योग्यतानुसार १६१
६. ध्यान में रखने योग्य बाते १६२
७. उपसंहार

परिशिष्ट (१) धर्म तत्त्वज्ञान और सस्कृति १६६
धर्म का बीज १६७
धर्म का ध्येय १६७
धर्म और विचार १६८
परिशिष्ट (२) सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि १६९
परिशिष्ट (३) पात्रता, योग्यता का महत्व १७२
उपदेश पाने की योग्यता
श्रावक धर्म की योग्यता प्राप्त करने के उपाय
साधु धर्म की योग्यता प्राप्त करने के उपाय
सिद्धान्त ग्रहण योग्यता

गुणस्थानक—पं० सुखलालजी

१. आत्मा की शुद्धता तथा शक्तियो का विकास-क्रम १७९
२. उपसंहार १९७

योग दृष्टि समुच्चय—श्री हरिभद्रसूरि

१. योग—प्रकाश मार्ग २०३
२. आत्मविकास—अंधकार से प्रकाश की ओर २०९
३. मनोभावो की और आचरण की विभिन्नता २१५
४. आत्म विकास भेद पर आधारित आठ दृष्टियां २२०

पृष्ठ

५. आठ दृष्टि का कोष्टक (Table) २३१ (अ)

६. उपसंहार २३२

अध्यात्म कल्पद्रुम—श्री मुनि सुन्दरसूरि

१. जीवन में शान्त रस २३९

२. समता—समभाव २३९

३. ममत्व (चित्त अर्थात् मन पर नियन्त्रण) २४१

४. वैराग्योपदेश—अनासक्तभाव २४३

५. धर्म शुद्धि २४४

६. शुद्ध देव, गुरु, धर्म २४५

७. यति (साधु) शिक्षा २४७

८. मिथ्यात्व निरोध २५०

९ शुभ वृत्ति शिक्षा २५१

१० साम्य सर्वस्व २५२

११. उपसंहार २५४

–:०:–

प्रकाशकीय

श्री जिनदत्तसूरि ज्ञानमाला के सोलहवें पुष्प की यह दूसरी आवृत्ति आपके समक्ष प्रस्तुत है।

मण्डल के प्रकाशनों की लोकप्रियता के कारण ही नये प्रकाशन की प्रेरणा मिल रही है। उदाहरणार्थ—नमस्कार चितामणि की पाच आवृत्तियाँ अब तक निकल चुकी है। इसी प्रकार 'जीवन दर्शन' की विद्वानों ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है एवं बुद्धिवादियों ने उसे अधिकाधिक अपनाई है। यही कारण है कि इस पुस्तक के पांच सस्करण प्रकाशित हो चुके है।

प्रस्तुत पुस्तक श्री गोपीचन्दजी सा. धाड़ीवाल की महान् आचार्यों—श्री हरिभद्रसूरि, श्री हेमचन्द्राचार्य, तथा श्री सिद्धर्षिगणि व श्री मुनि सुन्दरसूरि के ग्रंथों पर आधारित संकलन है। संकलन कर्त्ता ने योग जैसे क्लिष्ट विषय को बडी सरल व उत्तम शैली से प्रस्तुत किया है कि जो सहज ही में ग्रहण हो जाता है। लेखक की अन्य कृतियां 'जीवन दर्शन' धर्म व संसार का स्वरूप' तथा Rational Religion का भी शिक्षित तथा विद्वत वर्ग में समुचित आदर हुआ है।

जिन्हें आंतरिक प्रकाश प्राप्त करने की इच्छा है ऐसे मुमुक्ष जीवों को इस पुस्तक का वाचन-मनन परिशीलन बड़ा रुचिकर और आध्यात्मिक भूमिका में ले जाने व आन्तरिक विकास करने मे बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।

धर्म, अध्यात्म, कर्म, योग आदि विषयों पर इसी दृष्टि-कोण से लिखा जाना चाहिये। इस प्रकार के संशोधित विचारों के प्रकाशन की आज के युग की मांग है।

श्री धाड़ीवालजी सा. ने सिर्फ यह संकलन तथा अन्य कृतियों को मण्डल को प्रकाशनार्थ देकर सेवा का ही अवसर प्रदान नही किया है वरन् उन सबका प्रकाशन खर्च भी दिया है। मण्डल को सब ही समाजोपयोगी योजनाओं (छात्रवृत्ति, निराश्रित सहायता एव सुसाहित्य प्रकाशन) को श्री धाड़ीवाल सा. तन, मन व धन से यथेष्ट सहयोग देकर परिपुष्ट कर रहे है। हम उनके दीर्घायु होने की मंगल कामना करते हुए अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते है।

आशा है पाठक वृन्द इस पुस्तक से लाभ उठायेगे। और इसका विशेषकर नई पीढी में प्रचार करेंगे। यह पुस्तक तथा मंडल के अन्य प्रकाशन जैन धार्मिक शिक्षण शिविरो के पाठ्यक्रमों में रखने योग्य हैं। आशा है संबंधित संचालक महोदय इन पुस्तको को पाठ्यक्रमो में सम्मिलित करने का प्रयास करेंगे।

चाँदमल सीपाणी मंत्री
श्री जिनदत्तसूरि मण्डल
दादावाड़ी, अजमेर

अगस्त १, १९८०

आभार

इस पुस्तक के लिखने में जिन-जिन महानुभावों के ग्रंथों अथवा लेखों का सहारा लिया गया है उनके प्रति लेखक कृतज्ञता प्रगट करता है।

श्री चांदमलजी सोपाणी मंत्री, श्री जिनदत्तसूरि मंडल, अजमेर को भी धन्यवाद देता हूं कि उन्होंने बड़े परिश्रम के साथ पहले 'धर्म और संसार का स्वरूप' और कई पुस्तकों का प्रकाशन किया और अब इस पुस्तक की दूसरी आवृत्ति प्रकाशित कर रहे है। उनकी निस्वार्थ सेवा के बल पर ही मडल की अनेक परोपकारी प्रवृत्तियां चल रही है। इसमें भी संदेह नही यदि उत्तम पुस्तको का समाज मे यथोचित प्रचार होने लग जाय तो मंडल और भी अनेक पुस्तके प्रकाशित करने की अवश्य चेष्टा करेगा। समाज में पुस्तकें पढ़ने की रुचि नही के बराबर है। यह समाज के हित मे बड़ी बाधा है।

अन्त में पूज्य जैनाचार्यों, मुनिराजों, विदुषी साध्वियों और विद्वानो से विनय पूर्वक आग्रह है कि समय को समझें और आज की जनता को प्रभावित कर सकें ऐसी युक्तिपूर्ण भाषा के साहित्य का अधिकाधिक प्रचार करे। यह भी अनुरोध है कि इस पुस्तक का अवलोकन करें और अपनी सम्मति भेजकर कृतार्थ करे। यदि इस पुस्तक में कोई भूल या त्रुटि रह गई हो तो मंडल द्वारा मुझे सूचित करने की कृपा करें।

अगस्त १, १९८०　　　　　　　　गोपीचन्द धाड़ीवाल

प्रस्तावना

१. अध्यात्म विज्ञान क्या ?

मनुष्य के शरीर के पांच इन्द्रियां और मन है और इनके पीछे चेतना शक्ति है जिसके बिना यह शरीर मृतक है, मिट्टी के समान है। यह चेतना शक्ति आत्मा का स्वभाव है इसलिये वही आत्मा महत्व की वस्तु है। मनुष्य में जो भी सद्गुण है वे इसी आत्मा के मूल गुण का प्रकाश है और दुर्गुण है वे उन गुणों के कर्मावरणों से ढके जाने का परिणाम है। और इन आवरणों का कम या अधिक होना मनुष्य के गुणों की भिन्नता का कारण है।

पांचों इन्द्रियां अपने अपने विषयो की ओर आकर्षित हों यह स्वाभाविक ही है पर इनका उन विषयो में अत्याधिक लीन हो जाना, अधा हो जाना मनुष्य के विवेक का नाश कर देता है और वह पतन मार्गोनुमुख हो जाता है। स्वादिष्ट भोजन जिह्वा ने चखा कि अधिकाधिक खाने की इच्छा हुई, उस इच्छा को नही रोका जा सका और रोग उत्पन्न हुवा। यही वात सव इन्द्रियों के भोगो को लागू होती है। इन्द्रिय भोगों के लिये धन और सत्ता की आवश्यकता हौती है और मनुष्य उनके पीछे भागता है और धन व सत्ता मिलने पर नये-नये भोगों की आवश्यकता पडने लगती है। इसी प्रकार तीनों

एक दूसरे की लालसा के चक्कर में पड़ जाते है व मनुष्य का मन और विचार अपनी स्वतंत्रता खोकर इनके आधीन हो जाते है। मनुष्य विवेक खो वैठता है और धन, सत्ता और भोग की प्राप्ति के लिये, किसी का कुछ भी अहित कर सकता है। सव तरह के कार्य, अकार्य, हिसा, भूठ, चोरी, दुराचार द्वारा धन, सत्ता और भोगो मे अधा हो जाता है। इससे उसके शारीरिक स्वास्थ्य पर तो वुरा प्रभाव पडता ही है परन्तु उसका मन भी स्वतत्रता खोकर क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्पा, द्वेष आदि कुभावों के प्रभाव में आकर किसी भी कार्य में उचित निर्णय लेने की शक्ति खो वैठता है और जीवन में अशांति और असफलता के सिवाय कुछ नही पाता। उसके मन का स्वास्थ्य भी विगड़ जाता है। इसके सिवाय वह ऐसा दूपित वातावरण पैदा कर देता है कि सारी समाज मे वे ही रोग उत्पन्न हो जाते है जिनकी प्रतिक्रिया से वह भी नही वच सकता और फिर इसी तरह सारे संसार मे युद्ध, अशांति पारस्परिक द्रोह और विनाश का वातावरण वन जाता है।

मनुष्य की वुद्धि का विकास हुवा, आधुनिक विज्ञान का जन्म हुवा और उसने उद्योगीकरण को जन्म दिया। मनुष्य ने उसका उपयोग मनुष्यो और अन्य देशो के शोपण में किया। पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद का जन्म हुवा, असमानताएं और विपमताएं पैदा हुई, क्रांतियां हुई, राजाओं, पूंजीपतियों, जमीदारों को उखाड फेंका, स्वतंत्रता आन्दोलन हुए। समाजवाद, साम्यवाद का जन्म हुवा, पारस्परिक विरोधी नीतियों का प्रचार हुआ। राष्ट्रो के वीच सघर्ष आरम्भ हुआ विनाश-

कारी हथियारों को उत्पत्ति मे होड़ हुई। अन्य देशों को प्रलोभनों से या धमकियों से गुटों में शामिल करने की चेष्टाए होने लगी, कल-कारखाने चालू रखने के लिए हथियार अन्य देशो को बिना मूल्य या कर्ज रूप मे दिये जाने लगे जिसके कारण सारा ससार आज विनाशकारी वातावरण मे फंस कर मानो, एक शीघ्र ही फटने वाले ज्वालामुखी पहाड के मुख के पास पडा हुवा है। इतना होने पर भी भोग, धन, सत्ता की दौड चालू है। यह है मनुष्य की बुद्धि के विकास का परिणाम—सर्वत्र नाश की ज्वाला। यह है भोग प्रधान सभ्यता जिसमे भोग को प्राथमिकता दी गई है। इसे पुद्‌गलवाद भी कह सकते है क्योकि इसमें प्रधानता पुद्‌गल अर्थात् शरीर और इन्द्रियों के भोग के साधनों को ही दी गई है न कि इनके स्वामी, आत्मा और उसके स्वास्थ्य या विकास को। यह प्रधानता नाशवान शरीर पुद्‌गल को देता है न कि अविनाशी आत्मा को। भारत के सिवाय सारी दुनिया में इसकी प्रधानता रही है और इसके चक्कर मे आकर कई प्राचीन देश और सभ्यताए नष्ट हो गई। यूनान, रोम, मिश्र इसके वलि हुये और यूरोप अमेरिका आदि भी उसी विनाशकारी मार्ग पर जा रहे है यह तो प्रत्यक्ष वर्तमान इतिहास बता रहा है।

इसके विपरीत भारत ने जड पदार्थ—मनुष्य के शरीर और इद्रियो को और उनके भोगो और भोगसाधनो को प्रधानता नही दी किन्तु प्रधानता अविनाशी आत्मा को दी। शरीर को केवल आत्मा का वाहन माना और उसके अनुसार ही उसे महत्व दिया। शरीर की वेकदरी नही की, उसके

पालन पोषण के उपायों की अवहेलना नही की, उसकी कमजोरियो को समझा और उन कमजोरियो की अपेक्षा नही की किन्तु प्राथमिक आत्मा को दी और उन कमजोरियों को ध्यान में रखते हुये उन्हे क्रमशः दूर कर क्रमशः गुण प्राप्ति का मार्ग बताया है। शरीर की रक्षा और आराम को ध्यान में रखते हुये भी आत्मा की उपेक्षा नही की। उसकी विचार-धारा के नमूने कई वाक्यो से प्रगट है जो उसकी संस्कृति के बीज है। उदाहरणार्थ—सादा जीवन-उच्च विचार, जीओ और जीने दो, अपनी आवश्यकताओं को सीमित रखो, मैत्री, करुणा, प्रमोद, माध्यस्थ्यभाव, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह को महत्व, क्षमा वीरस्य—भूषणम्, अहिंसा परमोधर्मः ये शांतिदायक वाक्य, परोपकार, सेवा, दान, शील तप, दया,सहयोग, सद्भावना इत्यादि अनेक वाक्य इस सभ्यता की शान्तिदायनी शक्ति को प्रकट करते है। यह सशक्त जीवो और निर्वल मरो या प्रतिस्पर्धा से ही उन्नति होती है या असंतोष ही उन्नति का कारण हे या आवश्यकताएँ बढ़ाने में ही उन्नति है इत्यादि सर्वनाशी वाक्यों को प्रोत्साहन नहीं देते है, जो वाक्य और उनकी जड़ की विचार धारा शोपण को उत्तेजना देने वाले और अशान्ति की जड़ है।

भारतीय विचारधारा है—"पर अहित न हो" इसकी ध्यान में रखते हुये जीवनयापन करो और यह तव ही हो सकता है जव मनुष्य मन और इंद्रियों का दास न हो जाय किन्तु उन पर अनुशासन, सयम, नियंत्रण व मर्यादा रखे। इसलिये भारतीय संस्कृति ने भिन्न-भिन्न प्रकार से जनता को

मर्यादापालन की प्रेरणा दी है। यह ससार मे व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से सुख-शांति देने वाली संस्कृति का विज्ञान ही आध्यात्मिक विज्ञान है। उसके सिद्धान्त है—आत्मा अमर है, शरीरादि अन्य सव वस्तुएँ नाशवान है, इसलिये आत्मा को अधिक महत्व देना चाहिये और शरीर को उसकी प्रगति का साधन मात्र समझना चाहिये। इसलिये उसकी भी उपेक्षा नहीं करना चाहिये। आत्मा शुद्धावस्था में पूर्ण ज्ञानी, पूर्ण-सुखी है परन्तु ससार मे उस पर कर्म पुद्गल के आवरण उसके गुणो को आच्छादित करके उसे पूर्ण सुख, पूर्ण ज्ञान नही प्राप्त करने देते और यह आवरण प्राणी की क्रियाओं की प्रतिक्रिया रूप है। इसलिये मनुष्य को अपने जीवन में प्रत्येक कार्य में सावधान रहना चाहिये जिससे उसके कार्यो की प्रतिक्रिया उसके लिये दुखदाई न हो और यह सावधान रहने का मार्ग ही योग है। इस प्रकार यह अध्यात्म और योग कोई आकाश कुसुम नही है और न ऊपर से ओढने की चादर मात्र है और न साधु बाबाओ के रटने का मत्र है किन्तु संसार के प्रत्येक व्यक्ति और समूह के इसी जीवन में सुख शान्ति से रहने का विज्ञान और मार्ग है अर्थात् उन सद्गुणों और आत्मनिर्मलता के उपार्जन का मार्ग जो मनुष्य के इसी जीवन में सुख शाति को बढाता हुआ पूर्णता की ओर अर्थात् मोक्ष तक पहुँचा देता है।

आत्मा अमर है शरीर नाशवान है। और आत्मा जन्म जन्मातरो मे अनेक शरीर धारण करता हुआ और उसे त्याग करता हुआ, इस मनुष्य जन्म में आया है। और यह तो प्रगट ही है कि मनुष्य जन्म अन्य प्राणियों के जन्म या जीवन की अपेक्षा

से बहुत अधिक महत्व का और सुखदाई है, पर यहां भी जीवन मे दु.ख मिश्रित है और यह दुःख भी निजी कृत्यों की प्रतिक्रिया है। सव का जीवन ध्येय सुख है पर सुख भी कई प्रकार के होते है। कुछ इन्द्रिय भोग के सुख जो कि जब तक शरीर है तब तक ही रह सकते है और उनको जड़ में एक प्रकार का कांटा रहता है, कुछ चित्त की शांति के सुख, इनकी जड़ में काटा तो नही होता जैसे जन्मान्ध को दृष्टि मिल जाने का सुख। पर यह तो मृत्यु होने पर समाप्त हो जाता है। यह सब कुछ आत्मा के स्वभाव का क्षणिक प्रकाश मात्र है। पर सबसे उत्तम सुख तो वह है जो क्षणिक नही किन्तु आत्मा का स्थाई प्रकाश है, आवरण रहित प्रकाश है। इस सुख का आधार नाशवान अस्थाई वस्तु पुद्गल न होकर अमर, सदा रहने वाली आत्मा ही हो सकता है। इसकी प्राप्ति के उपाय आत्मा को आवरणो से मुक्त करना ही है अर्थात् आवरणो के कारणो को दूर करना। जब प्राणी अपनी आत्मा को उन्नत करता हुआ, आवरणो को कम करता हुआ मनुष्य जन्म मे आया है तो उसे समझना चाहिये की बचे खुचे आवरणो को पूर्ण रूप से हटा कर पूर्ण सुख के मार्ग पर चलने के लिये ही उसे यह मौका मिला है जिसे व्यर्थ न खो देना चाहिये और इस दृष्टि को सामने रखते हुये ही उसे जीवन-यापन करना चाहिये। अर्थात् दुर्गुणो से मुक्ति पाना और सद्गुणो को उपार्जित करना ही उसका जीवन ध्येय रहना चाहिये जिससे इसका यह जीवन भी सुखी हो और भविष्य मे सुखी जीवन की नीव पड़े। इसके लिये आवश्यक है कि वह

अपने जीवन को इस प्रकार ढाले कि किसी भी कार्य की अहितकर प्रतिक्रिया न हो अर्थात् हिंसादि पाच कुकृत्यों से बचे, अहिंसा का पालन करे, मनोभाव भी अहितकर न होने दे अर्थात् कषायों को कम करे और अपने चित्त को पराधीन (इन्द्रिय भोग के आधीन) न होने दे। जिस हद तक इस मार्ग में वह सफल होगा उस हद तक ही वह पूर्ण सुख के निकट पहुँचता जायगा। मनुष्य का यही जीवन ध्येय हो सकता है जो अस्थाई लाभ नहीं किन्तु स्थाई लाभ देता है। यही अध्यात्म विज्ञान का सार है। धर्म के नाम पर जो भी क्रियाएं, तपस्याएँ, अनुष्ठान इत्यादि किये जावे वे यदि इस मार्ग की प्रगति में सहायक है तो सार्थक है अन्यथा व्यर्थ है।

जैन धर्म मे यह विज्ञान और यह मार्ग बहुत ही व्यवस्थित रूप से बताया गया है। वह मनुष्य की कमजोरियों को समझता है और यह अपेक्षा नही रखता कि वह तुरन्त ही उन कमजोरियो से मुक्त हो जाय। वह क्रमिक उन्नति का एक-एक श्रेणी और कक्षा (योग की आठ दृष्टी) मे गुण प्राप्त कर और दुर्गुणो को त्याग कर क्रमश चित्त की निर्मलता वढ़ाता हुआ अर्थात् आत्म को शुद्ध करते हुये आगे बढने का मार्ग बताता है। वह तपस्या या अन्य क्रियाओ और अनुष्ठानो मे आडम्बरों को महत्व नही देता, किन्तु चित्त की निर्मलता को महत्व देता है और इस उद्देश्य प्राप्ति मे सहायक होने पर ही क्रियाओं को सार्थक मानता है। वह स्वर्ग का या ऋद्धि सिद्धि का प्रलोभन देकर मनुष्यो को धार्मिक अनुष्ठानों की ओर आकृष्ट नही करता किन्तु केवल अपने जीवन को पवित्र पवित्रतम उच्च उच्चतर, निर्मल निर्मलतम करने की

प्रेरणा देता है। पाठक इस पुस्तक में महान् पूर्वाचार्यों के इस विषय पर विचार पढकर अवश्य प्रेरणा प्राप्त करेंगे।

यहाँ न अंध विश्वास को स्थान है न केवल परलोक के परोक्ष सुख के स्वप्न देखने का। यह अध्यात्म विज्ञान ऐसा है जिसका बुद्धि, युक्ति और अनुभव समर्थन करता है और जिसके परिणाम देखने के लिये परलोक की राह भी नही देखनी पड़ती है किन्तु उसका शुभ फल इसी जन्म में मिल जाता है। पर यह मार्ग इतना आसान भी नही है कि पूजा या आडम्बरों द्वारा घूंस देकर या लंघन कर-कर कड़ी तपस्या करने मात्र से प्राप्त हो जाय। यह सब विचार पूर्वक आत्म शिक्षा मागता है। इन्द्रियों की स्वच्छंदता पर रोक मांगता है और केवल इसी दृष्टि से तप, जप, पूजा या अन्य अनुष्ठान के लिये कहता है।

श्री सिद्धर्षिगणि अपने प्रसिद्ध ग्रथ उपमिति भव प्रपंचा कथा के विषय में कहते है—"इस ग्रथ में युक्ति पूर्ण वचनों द्वारा जो जो वाते कही गई है, वे सब भावार्थ से भरपूर हैं। इन सब वातों पर शुद्ध बुद्धि द्वारा विचार करने और उन विचारों के आधार पर, हे भव्य प्राणियों! यदि तुम्हें सब विचार बिल्कुल निष्पाप लगे और तुम्हे हितकारी जान पड़े तो पीछे मुझ पर कृपा कर इन बातों को जल्दी स्वीकार कर लो क्योंकि इसमे तुम्हारे स्वार्थ की परम सिद्धि है" विचारों मे कितनी उदारता, निराग्रहता और आत्मलघुता है, अभिमान का लेश मात्र नही है इनमे युक्ति और बुद्धि पर कितना भार दिया गया है।

प्रसिद्ध आचार्य श्री हरिभद्रसूरि कहते है—"श्री वीर के

प्रति मुझे पक्षपात नही और कपिल आदि के प्रति मुझे द्वेष नही। जिनका वचन, युक्ति संगत है वही स्वीकृत करने योग्य है।" यहां अंधश्रद्धा को नही किन्तु युक्ति को महत्व दिया गया है।

"महावीर वाणी" के उद्धरण देखिये—"श्री जिन भगवान् ने किसी विषय मे न तो किसी प्रकार की अनुमति दी है और न किसी विषय मे किसी बात का निषेध किया है। उनकी यह आज्ञा है कि प्रवृत्ति मे याने साधनों में मनुष्य को सयम पूर्वक रहना चाहिये" "रोग की अवस्था मे जिन उपचारों द्वारा रोग का शमन होता है—हो सकता है, वे सारे आचार उपाय रूप होते है। वैसे तो आत्मा को सर्वथा स्वतंत्र करने की साधना के जिन साधनो द्वारा दोष अवरुद्ध किये जा सके वे सब साधन मोक्ष के उपाय है, ऐसा समझना चाहिये।"

इन विचारो मे अंधविश्वास सकीर्णता दुराग्रह को स्थान ही कहाँ है। सब मे युक्ति और बुद्धि को महत्व दिया गया है और ध्येय मनुष्य को निजि कमियों, कमजोरियो, दुर्गुणो से मुक्त होना, सद्गुणों को उपार्जन करना, चित्त को निर्मल बनाना और इस पथ पर पुरुषार्थ द्वारा बढ़ते हुये पूर्ण सुख मोक्ष को प्राप्त करना ही बताया गया है। ये कितने जग कल्याणकारी विचार हैं। मनुष्य की बुद्धि विकसित हुई पर यदि उसका उपयोग योग, धन, सत्ता के चक्कर में न लगाकर एक अश भी यदि इस मार्ग मे लगता तो आज ससार का वातावरण अशात, निराशापूर्ण और विनाशभय से घिरा हुआ

नही होता। यही अतर है भोगवादी अर्थात् पुद्गलवादी, जड़वादी विचार धारा में और अध्यात्मवादी अर्थात् सयम-त्याग-प्रमुख विचार धारा में। प्रथम विनाशकारी है, और द्वितीय कल्याणकारी है, केवल परलोक मे ही नही किन्तु पहले इसी लोक मे, इसी जीवन मे।

परन्तु आज जो धर्म का या अध्यात्म का रूप नजर आता है वह इससे भिन्न है। आज व्रत नियम दिलाने मे यहां तक कि मुनि दीक्षा देने मे भी योग्यता पात्रता की बिल्कुल उपेक्षा की जाती है। गुरु अपनी सेवा, सत्ता और नाम वढाने के लिये शिष्यो की सख्या वढाते रहते है। तपस्या मे छोटे-छोटे बेसमझ बालको को अठ्ठाई इत्यादि कठोर तपस्या के पच्चक्खाण कराकर प्रसिद्धि के लिए समाचार पत्रो मे फोटो छापे जाते है। परिग्रह त्याग को महत्व देने वाले धर्म मे घी की वोलिया बोलकर और उपधान तथा अन्य आडम्वरों के द्वारा परिग्रह के पीछे अंधे लोगों को श्रेय देकर लोगो को येनकेन प्रकारण धन प्राप्त करने की प्रेरणा दी जाती है। यहाँ तक कि भावनगर से प्रकाशित ता० २४ मार्च, १९७० के 'जैन' पत्र के अनुसार एक आचार्य ने फतवा दे दिया कि काले वाजार से कमाये धन से प्रतिष्ठा महोत्सव कराने मे कोई आपत्ति नही है जब कि श्री हरिभद्रसूरि के अनुसार ऐसे व्यक्ति को चैत्यवन्दन करने का भी अधिकार नही है। इसी प्रकार अहिसा के विकृत्र रूप का नमूना कुछ वर्षो पहले 'जैन' पत्र मे छपी एक मुनि महाराज के विचार थे—कि रात्रि भोजन मे जितना दोष है उतना पाच सौ जन्मो मे पर-स्त्री

सम्बंध में भी नही है। यह सब बातें योग्यता और पात्रता की उपेक्षा का ही परिणाम है। आज जितने आचार्य भगवंत और मुनि महाराज है, और आज जितनी कठोर तपस्याए, बडे बड़े उपधान और आडम्बरपूर्ण महोत्सव होते है उतने शायद पिछले सौ वर्षो मे कभी नही हुये होगे। पर यह सब होते हुये भी जैन धर्म आज प्राणहीन, प्रभावहीन और निस्तेज बना हुआ है और पारम्परिक जैन कुल में उत्पन्न नई पीढी को भी उस पर से श्रद्धा उठ रही है। जैन पत्र के २० दिसम्बर, १९६९ के अक में अग्र लेख को देखिये उसमे लिखा है · "नई पीढी की धार्मिक क्रिया और धार्मिक प्रवृत्ति की ओर रुचि न होने के कारण स्पष्ट है। विज्ञान ने उनकी बुद्धि को परिणाम लक्षी बनादी है। प्रत्येक क्रिया के क्या परिणाम होते है, बुद्धि उनकी खोज करती है और यह परिणाम किसी भी धार्मिक क्रिया के परोक्षरूप से या परलोक मे मिलने वाले नही किन्तु स्वयं के नजर के सामने मिलने वाले हो तब उन पर प्रभाव डाल सकते है। परन्तु वे देखते है कि इन धार्मिक क्रियाओ और विधि-विधानो का पूर्ण रूप से पालन करने वालो मे नि·स्सकोच अप्रमाणिकता, असत्य, अन्याय जैसे अधार्मिक आचरण का बोलवाला है, तब इनका अन्तर चिल्ला उठता है कि यह क्या ?"

योग्यता और पात्रता विहीन मुनि भोली जनता पर अपना प्रभाव, केवल अधविश्वासों के आधार पर ही कायम रख सकते है तब उनके लिये जड़ क्रियाओं और अनीति द्वारा कमाये हुये पैसों के द्वारा आडम्बरपूर्ण महोत्सवों के

सिवाय अन्य मार्ग ही क्या ? अपने स्वार्थ के लिये व मिथ्यात्व को प्रोत्साहन देते है और महान् कल्याणकारी धर्म को निस्तेज और निष्प्राण वना रहे है। महान् योगीराज श्री आनन्दघनजी के शब्द ध्यान देने योग्य है।

गच्छना भेद वहुनयण निहालता,
तत्वनीबात करतां न लाजे,
उदर भरणादि निज काल करता थका,
मोह नडिआ कलिकाल राजे।

(श्री अनन्तनाथजी का स्तवन)

इसी प्रकार श्री मुनि सुन्दरसूरि अध्यात्म कल्पद्रुम ग्रथ मे दुःख पूर्ण शब्दों में कहते हैः—"हे वीर परमात्मा! मोक्ष मार्ग सार्थवाह रूप जिनको तुमने स्थापित किया था वे इस कलिकाल में तुम्हारी अनुपस्थिति मे तुम्हारे शासन मे लुटेरे हो गये हैं। वे यति (मुनि) नाम धारण कर अल्प वुद्धिवाले (भोले भाले) व्यक्तियो की पुण्य लक्ष्मी की चोरी करते है। हम अब किनके पास पुकार करे। जहाँ स्वामी विना ही राज्य होता है वहाँ क्या कोतवाल चोर नही बन जाते। (१७०)"

आशय यह नही है कि व्रत, पच्चक्खाण तपस्या न की जाय या दीक्षा न हो किन्तु भार इस वात पर है कि यह केवल प्रथा और जड़ रूढी के रूप मे न हो और अध श्रद्धा का रूप, न होकर आत्म शिक्षा (Self discipline) द्वारा वास्तविक सद्गुण उपार्जन होने पर योग्यता की अपेक्षा से किये जावे। दीक्षा तो क्या श्रावक के १२ व्रत लेने का भी अधिकारी वही है जिसे सम्यक्त्व प्राप्त हो चुका है और सम्यक्त्व

प्राप्ति कोई आसान बात नही है जो नव तत्त्व की परिभाषा या नाम रटने से या दिखावटी भक्ति, धर्म क्रियाओ से आ जाय। सम्यक्त्व तो हृदय से धर्म सिद्धान्त समझकर सद्‌गुण प्राप्ति से आता है जिसका प्रकाश जीवन मे स्वय प्रगट हो। सम्यक्त्व की पहचान प्रशम, सवेग आदि गुणो से होती है। सम्यक्त्वो में मैत्री, करुणा, प्रमोद, माध्यस्थ्य गुण होने चाहिये। वह निराग्रही, परोपकारी दृष्टिवाला और सर्वहित चिन्तक होता है। उसकी अहिंसा और क्षमा कायरता और दीनता नही है किन्तु वह निर्भीक और तेजस्वी होती है। वह नीति मार्ग से विचलित नही होता। ये सब बाते पाठक इस पुस्तक में महान् पूर्वाचार्यों के ग्रंथो मे से उद्धृत देखेगे और आशा है उनसे वे प्रेरणा प्राप्त कर जैन धर्म को असली रूप में देखेगे और उन्हे धर्म के प्रति सच्ची श्रद्धा पैदा होगी।

पाश्चात्य भोगवाद, संसार के सामूहिक क्षेत्र में कैसी भयंकर स्थिति उत्पन्न कर रहा है यह तो हम ऊपर देख ही चुके है किन्तु व्यक्तिगत क्षेत्र मे भी कम कुपरिणाम दृष्टि-गोचर नही हो रहे है। केवल इन्द्रिय भोग का ध्येय सब नैतिकमूल्यों और सामाजिक तथा पारस्परिक मर्यादाओ को तोड़ कर स्वच्छंदता, मर्यादाहीनता को अपना रहा है। जो मन चाहे करो, सब मर्यादाएं मूर्खता है इत्यादि नारे लग रहे है और 'जैसा चाहो करो' (Permissive) सभ्यता का प्रादुर्भाव हो रहा है जिसके प्रभाव से पाश्चात्य जीवन में वैवाहिक सम्बन्ध जो अपनी पवित्रता तो पहले ही खोकर एक सौदा मात्र (Contract) रह गया है, सौदा भी न रह कर अब एक

अनावश्यक वन्धन समझा जाने लगेगा। इससे परिवार कोई वस्तु न रहेगी और मनुष्य भी पशुतुल्य सस्कारहीन हो जावेगे। दुर्भाग्य है कि इस भोग प्रमुख सभ्यता के कुपरिणाम सामने दीखने पर भी आज भारत मे उसका प्रभाव वढता जा रहा है। यह प्रभाव यहाँ की आध्यात्मिक सभ्यता को, त्याग संयम, प्रधान मस्कारो का नाश कर भारत को वरबाद कर देगा। भारत ने राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त की पर मानसिक स्वतंत्रता खो दी। और दूसरो ओर हम और हमारे कई धर्माचार्य अपनी अज्ञानता और स्वार्थवश परम् कल्याणकारी जैन धर्म को कुरूप बनाकर नई पीढी की उस पर से श्रद्धा हटा रहे है। सच्चे अर्थ मे धर्म गुरुओ का कर्त्तव्य है कि अपने सच्चे ज्ञान (सम्यक् ज्ञान) सच्ची श्रद्धा (सम्यक् श्रद्धा) और सच्चे चारित्र (सम्यक् चारित्र) से इस भोग प्रमुख सभ्यता के आक्रमण से नई पीढी की रक्षा करे और इसके लिए पहली आवश्यकता यह है कि वे अभिमान उत्तेजक उपाधियाँ और स्वागत समारोहो का मोह छोड कर बन्दक निन्दक समगणों महान् सिद्धात को दृष्टि के सामने रखकर अपने संसार त्याग और कठोर जीवन को सार्थक कर समाज का वातावरण शुभ, शुद्ध और पत्रिव वनावे।

हमारी धार्मिक और धार्मिक शिक्षण सँस्थाओं का कर्त्तव्य है कि जैन धर्म को पुन: जीवित और जागृत करे, उसे प्राणवान वनावे और इसमें अंधश्रद्धाओं का सहारा न लेकर प्राचीन सर्वमान्य महान् आचार्यो के ग्रन्थो का अवलोकन करे और उनकी युक्तिपूर्ण विचारधारा का प्रचार करें। हम

जैन इतिहास मे देखते हैं कि पुरातन काल में कई बार जैन साधुओ मे शिथिलाचार घुसा है और महान त्यागी साधुओ ने पुरुषार्थ द्वारा फिर चारित्र उद्धार किया है पर उससे शिथिलाचार के सब परिणाम, मिथ्याभावनाएँ इत्यादि नही मिटी और वे भी जीवन मे घुली मिली रह गई। आज भी शिथिलाचार का प्रभाव बढा हुवा है परन्तु उन भूतकाल के चारित्र उद्धारको को ही इसका श्रेय है कि सब कुछ होते हुये भी आज भी जैन धर्म के मूल सिद्धातो मे गडबड़ी नही हुई, सब सम्प्रदायो में समान है और मान्य है। सम्प्रदायों मे भेद केवल आचारो मे आया है। दूसरी महत्व की बात यह है कि साधु साध्वियो मे शिथिलता आने पर भी साधु साध्वियो को ब्रह्मचर्य व्रत मे किसी भी प्रकार की शिथिलता को किसी भी दिशा मे छूट नही दी गई है तथा कठोर जीवन नियमों का ही यह परिणाम है। इसका श्रेय भी उन्ही चारित्र उद्धारकों को है;

जैन शासन में अनुशासक धर्मगुरु नही है जैसा कि हमने आज मानकर धर्म का सारा उत्तरदायित्व उन पर छोड रखा है किन्तु अनुशासक चतुर्विध संघ अर्थात् साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका सयुक्त रूप से है। बड़े बडे आचार्यो को श्री संघ की आज्ञा मान्य होती है। इसलिये जैन धर्म को प्राणवान बनाने का एक मात्र उपाय यही है कि श्री सघ अपने कर्तव्य को समझे, धर्म के सिद्धान्तों को असली रूप मे समझे और अंधविश्वास को अंधभक्ति को आश्रय न देकर युक्ति और बुद्धि और अनुभव के आधार पर नई पीढ़ी को

योग्यता और अधिकार के अनुसार धर्म का असली रूप उन्हे बतावे। जनता मे इस बात के ज्ञान का प्रचार करे कि धर्म का उद्देश्य जीवन को उच्च, शुद्ध, शान्त परोपकारक बनाना है और इस बात के ज्ञान का भी प्रचार करे कि जैन साधुओं मे किन किन गुणो की अपेक्षा रखी जानी चाहिये जिससे लोग सच्चे पूजनीय साधु और भेषधारी नाम धारी साधु मे क्या अन्तर है समझ सके और अयोग्य साधुओं को समाज मे महत्व प्राप्त न हो। ऐसा होने से ही सच्चा धर्म सामने आयेगा और वह प्राणवान प्रभावशाली व कल्याणकारी बनेगा।

जैन दर्शन में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र ये तीन रत्न कहे गये है और कल्याण के लिये, इनमें से एक की भी कमी हो तो सफलता नही मिल सकती इसलिये जैन शासन सेवा के लिये, जैन धर्म को प्राणवान बनाने के लिये उसके सिद्धान्तो का सच्चा ज्ञान ग्रहण करना, कराना और बुद्धि और अनुभव से उस ज्ञान पर सच्ची आन्तरिक श्रद्धा न कि अधश्रद्धा प्राप्त करना और फिर उसे यथाशक्ति और क्रमशः अपने जीवन मे उतारने से वह जनता को प्रभावित कर धर्म को प्रभावशाली रूप दे सकता है। उच्च चारित्र से अनेक सिद्धियों का प्राप्त होना शास्त्रो मे माना गया है और यह जनता को प्रभावित करना भी एक सिद्धि है। महात्मा गाँधी के उच्च चारित्र के कारण उनके शब्दों का जो प्रभाव जनता पर पडा है वह प्रभाव चरित्र बल के अभाव में

आज के बड़े बड़े नेताओं, विद्वानों और शास्त्रों के पंडितों का नहीं पड़ता । इसलिये अपने जीवन में आचरण को उच्च करने से ही जनता में जागृति और जैन धर्म की सच्ची श्रद्धा उत्पन्न होगी ।

दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि जैन धर्म में महत्व अर्थ अर्थात् भाव को दिया गया है न कि शब्दो को, शब्दों का अर्थ तो काल के साथ बदलता रहता है । इसलिये भाषा का वही अर्थ ग्रहण करना चाहिये जिसके द्वारा स्व-अनुशासन, आत्म नियंत्रण, आत्म शिक्षा सद्गुणोपार्जन द्वारा चित्त में शान्ति और निर्मलता बढ़े । और जो भी तप, जप, देव, दर्शन, पूजा, उत्सव आदि अनुष्ठान किये जाये इसी चित्त की निर्मलता और चारों तरफ उसी निर्मलता के वातावरण पैदा करने के उद्देश्य से साधन रूप में किये जाने चाहिये न कि नामवरी, कीर्ति या परलोक में स्वर्ग या इस लोक में ऋद्धि सिद्धि के उद्देश्य से । तब ही धर्म प्राणवंत और जग कल्याणकारी बन सकता है ।

इस उद्देश्य पूर्ति के लिये हमें नीचे लिखी बातों की ओर ध्यान देना चाहिये:—

१ अंधश्रद्धा का आश्रय न लेकर युक्ति और अनुभव के आधार पर धर्म के सिद्धान्त और अनुष्ठानों को समझाना चाहिये ।

२. धर्म इस रूप में समझाया जाना चाहिये कि उसका उद्देश्य आत्मानुशासन (Self-discipline) द्वारा मनुष्य को कुप्रवृत्तियों से बचाकर उसमें सद्गुण उत्पन्न करना और बुद्धि और जीवन को शुद्ध निर्मल करना है और ऐसे किये बिना

मनुष्य का न तो यह लोक, यह जीवन सफल हो सकता है और न परलोक। भार इस जीवन को उच्च बनाने पर होना चाहिये जिससे उसे इसी जीवन के सब क्षेत्रों में सफलता मिले। ऐसी योग्यता उसकी आत्मा के साथ दूसरे लोक में अवश्य जायगी और लाभप्रद होगी।

३ आचार्यो, साधु, साध्वियों के पारस्परिक मत भेदों और गुटों की उपेक्षा कर उनके साथ इस प्रकार से सद्-व्यवहार करना चाहिये जिससे वे भो अपनी इन निर्बलताओं को छोडने के लिये प्रोत्साहित हों।

४ सिद्धांत तो शाश्वत है पर मनुष्य की बुद्धि देश काल के साथ बदलती है। इसलिए सिद्धांत इस प्रकार से समझाने चाहिये कि देशकाल की बुद्धि उन्हें स्वीकार कर सके अन्यथा वह धर्मोपदेश कोई मूल्य नही रखता।

५. जैन धर्म समझाने में उपदेशों में या साहित्य मे पांडित्य पूर्ण भाषा या दार्शनिक या शास्त्रोय भाषा की जगह उस भाषा का उपयोग करना चाहिये जिससे श्रोताओं और पाठकों का ऐसा अनुभव हो कि धर्म तो उनके जीवन के प्रत्येक कार्य से संबंधित है और मार्गदर्शक है न कि केवल दिमागी कसरत या सुनकर झाड़ देने की वस्तु है।

६. योग्यता के अनुसार उपदेश दिये जाने चाहिये और योग्यतानुसार ही तप, व्रत, क्रियाऐ, इत्यादि करने को कहा जाना चाहिये। धर्म का आधार परलोक भय न होकर उचितानुचित की समझ होना चाहिये। बालकों में बात बात में पाप का भय दिखाना उनकी विचार शक्ति को नष्ट कर देता है और उनमें विरोध भावना पैदा कर देता है। इसी

प्रकार हर किसी के सामने वैराग्य, संसार त्याग, मोह ममता त्याग का उपदेश, धर्म पर से श्रद्धा हटा देता है, धर्म को असभव और अ-व्यवहारिक (impractical) वस्तु मानने का कारण वन जाता है । किसी को न तो सम्यक्त्व के गुण प्राप्त हुये और न वह श्रावक के १२ व्रत पालने का अधिकारी हो. उससे कर्मादान की आलोचना कराना भी धर्म को हास्यापद वनाना है। धर्म का उद्देश्य चित्त का कहे चाहे मन का या वुद्धि का या आत्मा का क्रमिक विकास, आत्मा की क्रमिक शुद्धि और उत्थान है । इन बातों की उपेक्षा कर कुछ भी उपदेश या क्रियाऐं धर्म की अवहेलना ही है न कि प्रभावना ।

७. धार्मिक उपदेशों में परिपाटी ही परलोक की ओर ध्यान देने की है । पुराने समय मे पारस्परिक सस्कार ही ऐसे होते थे कि इस लोक की ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता नही थी तव भी महान् आचार्यों ने इसी लोक में, इसी जीवन मे धर्म से लाभ मिलने की उपेक्षा नही की । परन्तु आज तो पारस्परिक संस्कार नाम की कोई वस्तु ही नही रही और जीवन ही ऐसा वन गया है कि विपरीत और भोग प्रधान पतनोन्मुख संस्कार ही बनते हैं । ऐसी दशा मे जब तक धर्म से इसी भव में लाभ नही बताया जा सकेगा, उसकी ओर किसी की भी रूचि नही होगी । इस जीवन की समस्याए ही इतनी है कि परलोक की बात सुनने का अवकाश ही किसको है । धर्म दोनो लोकों को सुधारने वाला माना गया है । यह समय ऐसा है कि उससे यह लोक कैसे सुधरता है इसी पर भार दिया जाना चाहिये । इस जीवन के सच्चे सुधार से परलोक स्वतः सुधर जायगा ।

८ आडम्बर पूर्ण महोत्सवों में धन खर्च करने के बदले, धन को अच्छी तरह धर्म की, अध्यात्म विज्ञान, योग आदि की सरल भाषाओ में पुस्तकों के प्रकाशन और प्रचार तथा लोगों मे पढने की आदत डालने में खर्च करना चाहिये। ऐसा वातावरण बनाना चाहिये कि ऐसी पुस्तके पांच सात हजार आसानी से प्रचारित हो जाय।

९ धर्म के नाम पर या सुधार के नाम पर संघ मे या समाज मे दल वन्दी या पार्टियां आदि कदापि नहीं होने देना चाहिये किन्तु शिष्ट, विनयवंत आचरण से ही जनता के मनोभाव सुधारने चाहिये। लेक्चर बाजी का इतना प्रभाव नही होता जितना उच्च आचरण का। इसके सिवाय तोड़ना आसान है बनाना कठिन इसलिये विध्वंसात्मक मार्ग नहीं अपनाना चाहिये।

क्या श्री सघ, साधु, साध्वी, श्रावक-श्राविका, प्राचीन महानाचार्यों के वचनो पर विचार कर जैन धर्म को पुनः प्राणवान और प्रभावशील बनायेंगे जिससे वह जग-कल्याण कर सके। प्राचीन काल व्यक्ति प्रधान काल था वादशाहों को प्रतिवोध करने से जनता पर प्रभाव पड़ता था। आज जनता प्रधान काल है जनता को प्रभावित करने से जग कल्याण होता है और वह केवल साधु मुनिराजों के आधार पर नहीं किन्तु उसमें श्रावक श्राविकाओं को भी सक्रीय भाग लेकर विशेपकर सरल सार पूर्ण साहित्य के प्रचार की ओर और पठन-पाठन की आदत के प्रचार की ओर ध्यान देना आवश्यक है।

२—जैन धर्म की विशेषताएं और उसकी जीवन शक्ति

जैन धर्म ही भारतीय संस्कृति की आधार शिला है

ऐतिहासिक काल मे अर्थात् पिछले २५०० वर्षो मे भगवान् महावीर के जोड़ का कोई महापुरुष नही हुआ। वे जैन धर्म के तोर्थंकर थे। उनका ध्येय मनुष्यों को सुख का मार्ग बताना था और वह केवल परलोक का परोक्ष सुख ही नही किन्तु वर्तमान जीवन में भी ससार सुखी हो ऐसा मार्ग बताना था। उनके कथनानुसार यह सुख पराधीन नही है, किसी बाहरी शक्ति की देन नही है, किसी देवी-देवता, या ईश्वर-परमात्मा या स्वयं तीर्थंकर के हाथ की बात नही है कि उनकी पूजा भक्ति खुशामद आदि से प्राप्त हो। यह सुख तो आत्मा का गुण और स्वभाव ही है जो कई कारणो से दबा हुआ है। आत्मा के गुणों को दबा रखने या ढके रखने वाले कारण केवल निजी पुरुषार्थ से ही दूर किये जा सकते है। और निज पुरुषार्थ से ही ये कारण पैदा होने से रोके जा सकते है।

आत्मा के सुख का आधार समता[1] समभाव (equanimity) है, चित्त मे उथल-पुथल नही होने देना अर्थात् उस पर नियंत्रण रखना, चित्त में शान्ति रखना। यह उथल-पुथल

[1] देखिये पृष्ठ १५७

तभी होती है जब हम अपने आपको अनुकूल या प्रतिकूल बातों या राग द्वेष मोह आदि से प्रभावित होने से न रोक सके। जिस हद तक हम अपने आपको इस प्रभाव से रोक सकेगे, उसी हद तक हमको समता, समभाव का अनुभव होगा और हमारे चित्त मे शान्ति होगी। यही सुख है। यह समभाव या समता हमारे चित्त की शुद्धि पर आधारित है और इसी से हमारे आत्मा की शुद्धि होकर हमारे स्वाभाविक सुख के ऊपर आया हुआ आवरण दूर होगा। यह बात प्रत्येक व्यक्ति एक सीमा तक अनुभव करता है।

यह भी सर्वमान्य और अनुभवित सत्य है कि प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक है। यही कर्म सिद्धान्त[1] का आधार है। उसमे बताया गया है कि किस-किस प्रकार की क्रिया की क्या-क्या प्रतिक्रिया होती है। यह प्रतिक्रिया आत्मा पर कर्म पुद्गलो का आकर चिपट जाना है, उसके गुणो को आव्रत करना है। सुख-दुःख रूप मे यह प्रतिक्रिया फलित होती है। कर्म सिद्धान्त बताता है किस प्रकार कर्म पुद्गल आकर आत्मा के चिपक जाते है, किस प्रकार उनका आना रोका जा सकता है, और किस प्रकार वे दूर किये जाकर आत्मा शुद्ध अवस्था अर्थात् परमात्मावस्था प्राप्त कर सकती है।

बुरी प्रतिक्रिया से बचने के लिए हमे बुरी क्रिया करने से बचना चाहिए, केवल जानकर करने से ही नही किन्तु असावधानी या प्रमाद से भी ऐसी क्रिया नही करनी चाहिए।

---

[1] देखिये पृष्ठ १ आगे

ऐसी क्रिया कौनसी हो सकती हैं ? वह क्रिया जिससे किसी का भी अहित हो, वह अहित शारीरिक कष्ट या मृत्यु से, झूठ या कटुवचन से, किसी वस्तु की चोरी अपहरण से, दुराचार इन्द्रीय भोग के पीछे अन्धे हो जाने से, किसी भी वस्तु की असीम मूर्च्छा से, क्रोध, मान, माया, इत्यादि बुरे भावो इत्यादि मे हो, प्रतिक्रिया का कारण बनती है और हम में बुरे संस्कार उत्पन्न कर आत्मा को कलुषित करती है ये उसके स्वाभाविक गुणों को दबा देती है। ऐसी सब क्रियाओं का समावेश हिंसा शब्द में हो जाता है अर्थात् सब दु.खों की जड़ हिंसा ही है और दुःखों से बचने का उपाय अहिंसा की साधना है। कुकार्यो की अपेक्षा सुकार्य जिनकी प्रतिक्रिया अच्छी ही होगी अच्छे है पर पूर्ण समता की अपेक्षा से और बहुत शुद्धि पर पहुँची हुई आत्मा की अपेक्षा से वे भी त्याज्य है पर साधारण मनुष्य की अपेक्षा से वे सुकार्य उसे बुरे कार्यों से बचाते है इसलिए आदरणीय है। यह तो अहिंसा का नकारात्मक रूप है। पर उसका सकारात्मक (क्रियात्मक) रूप है—मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य भाव।

यह हिंसा से बचना अपने आप हो या केवल बातो से नही आ जाता है। इसके लिए आत्म-शिक्षा (Self-discipline) की जरूरत है, जीवन को नियमित, अनुशासित, सयत बनाने की आवश्यकता है, इस आत्मानुशासन को सयम कहते है। सयम की शिक्षा वैसी आदत डालने से अर्थात् अपने कार्यों और विचारों पर समय-समय पर नियन्त्रण करने से आती

है इसे ही तप कहते है। इस प्रकार अहिंसा, सयम और तप ही सुख शान्ति के उपाय है। इस प्रकार मनुष्य का भविष्य स्वयं के हाथों में है न कि किसी अन्य के या किसी बाहरी शक्ति के हाथो में।

जिस हद तक मनुष्य अहिंसा, सयम, तप का पालन करेगा उसी हद तक उसकी आत्मा शुद्ध होती जायगी और वह सुख के मार्ग पर प्रगति करता जायगा। यह पालन आत्मबल मांगता है और आत्मबल की मात्रा सब मे बराबर नही होती।

जिनमें आत्मबल की मात्रा अधिक है उनके लिए पंच महाव्रत की योजना की गई है। उन्हें अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रत पूर्ण रूप से पालन करना पड़ता है। यह कठोर त्याग और संयम पूर्ण जीवन मांगता है। इसे तलवार की धार पर चलना कहा गया है। ऐसे लोगों का ध्येय स्व-पर कल्याण बताया गया है। इसके लिये भगवान् महावीर के कहे या जैन धर्म के अनुसार सिद्धांत का ज्ञान ही पर्याप्त नही है पर उस ज्ञान पर श्रद्धा के आधार पर आचरण भी आवश्यक है। इसीलिये पूर्ण अहिंसा पालन के लिये कठोर त्याग और संयम और वह भी ज्ञान और श्रद्धा पूर्वक अनिवार्य है। ऐसे आचरण वाले अपने आचरण से स्वयं की आत्मा तो शुद्ध करते ही है किन्तु अन्यो को भी प्रेरणा देते है और ऐसे महान् त्यागियो का उपदेश ही जनता को प्रभावित कर जग कल्याण कर सकता है। यहा कथनी और

करनी में अन्तर स्वीकार नही है। यह सब भी कितनी सहज मे समझ में आने वाली बात है और यह जैन धर्म की ही विशेपता है। स्वय भगवान् ने उपदेश देने का मार्ग अपनाने से पहले अपना घर-वार, राज-पाट सब छोड़कर ऐसे ही कठोर जीवन पालन द्वारा अपनी आत्मा को पूर्ण निर्मल, शुद्ध वनाया जिससे वे सत्य को पहचान सके और तब उन्होने ससार को प्रकाश दिया। साधारण जनता मे इतने आत्म-वल की अपेक्षा नही रखी जा सकती। उनके लिये ध्येय तो वही पूर्ण अहिंसा रखा किन्तु उनके लिये पाँच व्रतो को आंशिक रूप मे पालते हुये पूर्ण रूप से पालने की ओर धीरे-धीरे यथाशक्ति और एक-एक कक्षा क्रम से प्रगति करने की योजना रखी। उनके पांच व्रत अणुव्रत कहलाये और पूर्ण महाव्रतों की और प्रगति के सहायक रूप सात दिग्व्रतो और शिक्षाव्रतो की योजना की। यह शनै. शनैः मनुष्य को ऊचा उठने, आत्म विकास करने व अधिकाधिक सुख प्राप्त करने की कितनी सुन्दर योजना है। अणुव्रति भी वही हो सकता है जो सम्पत्ति न्यायपूर्ण उपायो से उपार्जित करे।

इस उन्नति क्रम की १४ कक्षाओ की भी योजना है जिसे १४ गुणस्थानों[1] का नाम दिया गया हैं। इससे प्रत्येक व्यक्ति सोच सकता है कि वह किस गुणस्थान मे है और वह कैसे आगे प्रगति करे। एक गुणस्थान से अगले गुणस्थानो पर किस तरह प्रगत्ति करता हुआ प्राणी अन्तिम ध्येय पर पहुँच सकता है इसका कार्यक्रम भी है। उसे योग कहते है।

[1] पृष्ठ ६७ देखे।

यह भी बताया गया है कि इस कक्षा मे प्रगति करने में अनुक्रम से कौन-कौन से दोष कम हो जाते हैं और कौन-कौन से गुणो का विकास होता जाता है तथा अधकार कैसे-कैसे कम होता जाता है और ज्ञान दृष्टि खुलती जाती है। कैसे प्राणी निराग्रही, सन्तुलित दृष्टि वाला होता जाता है, उसमें विवेक जागृत होता जाता है, कैसे उसका चित्त शांत होता जाता है और उसका सुख वढता जाता है और आगे बढ़ने का उत्साह भी बढ़ता जाता है, उसमें सत्य की, खोज की, आत्मा के गुणों के ज्ञान की, उन्हे समझने की, जिज्ञासा वढ़ती जाती है और उत्साह से वह मोक्ष मार्ग पर वढता हुवा परमात्म पद प्राप्त कर लेता है। यह योग शिक्षा उसे गृहस्थावस्था में भी सफलता और सुख देती है और त्याग अवस्था मे तो उसको मोक्ष तक प्राप्त करा देती है। उसकी यह प्रगति, उसकी बुद्धि, उसका विवेक, उसकी ज्ञान दृष्टि का विकास करती-हुई उसे पूर्णता पर पहुँचाती है। आसानी से समझा जा सके इस आशय से इस दृष्टि विकास, प्रकाश प्राप्ति के आठ भेद किये गये है और वे आठ योग दृष्टि कहलाती है। यह सब अ ध विश्वास आधारित नही है, किन्तु बुद्धि आधारित है।

जैन धर्म कठोर त्याग और संयम पर भार देता है। वह वौद्धों की तरह मध्यमार्ग स्वीकार नहीं करता जिसका प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी सुविधानुसार धर्म का अर्थ लगा सकता है जिसका परिणाम वह हुवा कि भारत से बौद्ध धर्म का लोप हो गया और बौद्ध धर्म अहिसा प्रधान होते हुये भी ससार

के धर्मानुयायियों में मांसाहार का प्रचार है। इसके विपरीत कठोर अनुशासन के कारण आज जैन धर्म में उच्च चारित्रवान पूर्ण त्यागी अपरिग्रही साधु-साध्वियो की परम्परा चली आ रही है और जैन जनता निरामीष है। अन्य धर्मो मे भी त्याग सयम को महत्व तो दिया गया है, पर वे इतने पूर्ण नही है और इस प्रकार का पारस्परिक व्यवास्थत आचरण कही दृष्टिगोचर नही होता, और इसलिये वह जनता को भी विशेष प्रभावित नही करता है। भारत की जो त्याग-संयम प्रधान सस्कृति है वह इस ज्ञानाधारित पूर्ण त्याग संयम का ही परिणाम है। जैन धर्म ही भारत मे निरामिषाहार के प्रचार की बुनियाद है।

जैन धर्म की विशाल निराग्रही दृष्टि का द्योतक उसका स्याद्वाद और अनेकान्त सिद्धांत है। यह प्रत्येक वात को हर दृष्टि से देखने को कहता है, न कि एकान्त पूर्वाग्रही दृष्टि से। वह समन्वय दृष्टि को अपनाता है। जैन महात्माओं की विशाल और उदार दृष्टि के हम यहां कुछ उदारहरण देते है।

श्री हेमचन्द्राचार्य कहते है—भव ससार के कारण-भूत राग द्वेष आदि समग्रदोष जिसके क्षीण हो गये है, वे चाहे ब्रह्मा, विष्णु, शकर, अथवा जिन हो उन्हे मेरा नमस्कार है।

श्री यशोविजयजी कहते है—बुद्ध, जिन, ऋषिकेश, शभू, ब्रह्मा आदि पुरुषादि भिन्न-भिन्न नाम होने पर भी इन सबका अर्थ एक ही है। एक ही परमात्मा इन सब मार्गो से अभिमित होता है।

वे फिर कहते हैं—जितेन्द्रीय, क्रोधादि कषाय रहित, शान्त मना, शुभ आशय वाले सज्जन भिन्न-भिन्न मार्गो से भी परमात्म दशा पर पहुँच मकते है ।

योगीराज श्री आनन्दघनजी कहते है—

राम कहो रहमान कहो कोउ, कान कहो महादेवरी ।
पारसनाथ कहो कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेवरी ।।
भाजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री ।
तैसे खड कल्पना रोपित, आप अखड स्वरूपरी ।।
निज पदे रमे राम सो कहिय, रहिम करे रहिमान री ।
कर्शे कर्म कान सो कहिये, महादेव निर्वाण री ।।
परसे रूप परस सो कहिये, ब्रह्मा चिन्हे सो ब्रह्म री ।
इह विध साधो आप आनन्दघन चेतन मय निःकर्म री ।।

यह उदार दृष्टि अन्य सम्प्रदायों मे कहा नजर आती है । यदि अन्य धर्मो में ऐसी विचार विशालता और समन्वय-कारी दृष्टि होती तो भारत मे साम्प्रदायिकता का रोग नही होता और देश का आत्मवल वढा हुवा होता पर भारत मे अवस्था क्या है, यह प्रसिद्ध प० सुखलालजी के श्री यशो-विजयजी स्मृतिग्रंथ में लिखे निवध के निम्न उद्धरणो से प्रगट है—

(१) "निःसंदेह श्वेताम्बर और दिगम्बर समाज मे अनेक वहुश्रुत विद्वान हो गये है, वैदिक तथा वौद्ध सम्प्रदाय मे भी प्रचड विद्वानों की कमी नही, खासकर वैदिक विद्वान् तो सदा ही उच्च स्थान लेते आये है । पर इसमे शक नही

कि कोई बौद्ध या कोई वैदिक विद्वान् आज तक ऐसा नही हुआ है जिसके ग्रन्थ अवलोकन मे यह जान पड़े कि वह वैदिक या बौद्ध शास्त्रो के उपरान्त जैन शास्त्र का भी वास्तविक गहरा और सर्व व्यापी ज्ञान रखता हो। इसके विपरीत उपाध्याय यशोविजयजी जैन थे इसलिये जैन शास्त्र का गहरा ज्ञान तो उनके लिये सहज था, पर उपनिषद, दर्शन और वैदिक तथा बौद्ध ग्रथो का इतना वास्तविक परिपूर्ण और स्पष्ट ज्ञान उनकी अपूर्व प्रतिभा और काशी सेवन का ही परिणाम है।"

(२) "दूसरी महादुःख की बात यह है कि अपने भारतीय विद्वान अन्य धर्मो के विषय मे अच्छा ज्ञान रखते है पर अपने ही आगन मे रहे हुये गुजराती प्रजा के उत्कर्ष मे सर्वोत्तम और बेजोड भाग लेने वाले जैन धर्म के प्रति या उनके साधु पुरुषों के प्रति ज्ञान प्राप्त करने मे बहुत पिछड़े रहे है। खेद की बात है कि प्रायः उनके प्रति पराये जैसा ही व्यवहार करते है। हजारों वर्षो से जीवित जैन धर्म के ज्ञान के अभाव से गुजरात के शिक्षण विभाग मे काम में आने वाले गुजराती आदि पाठ्य पुस्तकों मे तथा अन्य साहित्य में भी जहा जहां भगवान् महावीर या जैन धर्म के विषय में कुछ लिखा है 'सार हीन छिछौरापन जैसे लिखा है। और कई जगह तो धर्म के मर्म को समझने के अभाव मे झूठे विधान कर कर अन्याय भी किया है, जानते अजानते गलत स्थिति बताई गई है।"

किसी हद तक इस उपेक्षा का कारण हम जैनियो का आत्महीनता का भाव भी है और आत्महीनता का कारण हमारा जैन धर्म को असली महत्वपूर्ण रूप मे नहीं समझकर, एक रिवाज की तरह ही मान लेना है जिससे हम में आत्म-सम्मान का अभाव वना हुआ है और हम किसी प्रकार के गौरव का अनुभव नही कर सकते है।

इस कठोर त्याग सयम की परम्परा के साधुओं मे अनेक महाविद्वान और उच्च चारित्रवान आचार्य होते आये है जिनके महत्वपूर्ण ग्रथ आज भी मौजूद है। पर भारतीय इतिहास की पुस्तकों मे या अन्य भारतीय पुस्तकों मे उनका कही यथेष्ट जिक्र तक नही आता है। उन आचार्यो के उपदेशों, ग्रन्थो से ही भारतीय संस्कृति बनी है पर उनकी एकदम उपेक्षा ही की जाती है। भारत में निरामिष भोजन प्रचार उन्ही जैनाचार्यों की देन है। यह उन्ही का प्रभाव है कि भारत में मांसाहारियो मे भी थोड़ी बहुत करुणा दया का अंश है कि एक मांसाहारी मोटर ड्राईवर भी यदि मोटर के सामने कुत्ता या अन्य छोटा प्राणी भी आ जायगा तो वह उसको गाड़ी चलाते समय बचायगा। भारत के मांसाहारी भी प्राय: मासाहार को अच्छा नही समझते हैं। कई जातियों में स्त्रियां मांस नही खाती है। कई समाजो मे विधवाएं मांस त्याग देती हैं, यह सब जैन धर्म की ही देन है।

जैन आचार्यों ने अनेक विषयों पर अनेक ग्रंथ भी प्रत्येक भाषा में लिखे हैं। यह स्वीकार किया जा चुका है

कि यदि संस्कृत या तामिल भाषा में से जैन साहित्य निकाल दिया जाय तो वे भाषाएं महत्वहीन हो जायगी। इस प्रकार जैन कथा साहित्य भी बहुत् विशाल है और उसमें विशेषता यह है कि उसमें अश्लीलता या अभद्रता का कही नाम भी नही। किन्तु वह साहित्य मनुष्य के चरित्र को नैतिक, सदाचारी, परोपकारी, करुणामय और अहिसक बनाने को प्रेरणा देता है। प्राचीन हस्तलिखित और ताड़पत्रीय ग्रंथो के अनेक ग्रथ भडार भी जैनियों ने साहित्य को सुरक्षित रखने के लिये वनाये जो आज भी वर्तमान है और गौरव पूर्ण प्राचीन इतिहास के साक्षी है। इन महत्वपूर्ण बातों की भी उपेक्षा ही की जाती है और जनसाधारण को इसका परिचय ही नही कराया जाता है।

यह भो देखा जाता है कि देश के अहिंसक निरामिष भोजी जातियो का सामाजिक और नैतिक स्तर जनसाधारण के स्तर से ऊंचा है। यह भी उन महान् जैन आचार्यों के पारस्परिक त्याग और सयम पूर्ण जीवन और उपदेशों का ही प्रभाव है। जैन आचार्यो ने ही मुगल वादशाहों तक को प्रभावित कर अहिंसा समर्थक कई फरमान-आदेश जारी कराये। और जैन आचार्यों के उपदेश से हो भारत में धर्म के नाम पर प्राणी वध की प्रथा का अंत हो गया। सब से पहले भगवान् महावीर ने ही पशु वली के विरुद्ध आवाज उठायी थी। जैनाचार्यो ने कुमारपाल आदि अनेक राजाओं को जैन धर्मी वनाया और उनके राज्यों मे अहिंसा का

वातावरण बनाया ऐसे महान् आचार्यो और ऐसे सर्वकल्याण-कारी धर्म की उपेक्षा देश के लिए घातक ही है।

भारत मे आज भी कई कलापूर्ण जैन मन्दिर आदि मौजूद है। आज वगाल दक्षिण भारत आदि में जहां के जैन वहा के मूल निवासी नही है पर उस भूमि में अनेक कलापूर्ण मन्दिरों के खण्डर मिलते है जो वताते है कि भारत के उत्तर मे दक्षिण तक और पूर्व से पश्चिम तक जैन धर्म का कितना प्रचार था और देश की कला में जैनो का कितना भारी योग है यह भी प्रमाणित होता है। जैन धर्म का प्रचार भारत के वाहर के देशो मे भी हुआ था। श्री रत्नमुनि स्मृति ग्रथ मे डॉ० कामताप्रसाद जैन ने विदेशी संस्कृतियो मे अहिंसा' शीर्षक लेख मे वतलाया है कि 'सुमेर, वावल, ईरान, मिश्र आदि देशो मे अहिंसा का प्रसार करने वाले भारतीय ही थे। यूनानी तत्त्ववेता पाइथोगोरस और प्लेटो जैन मुनियों के सम्पर्क मे आये थे। अरव में हजरत मुहम्मद साहिव ने भी अहिंसक जीवन अपनाथा था। अमेरिका की प्राचीन सस्कृतियों में भी अहिंसा थी।'

प्रायः कहा जाता है कि सव धर्मो के सिद्धांत समान है। हम इससे इन्कार नही करते। अहिंसा परमोधर्मः सिद्धांत भारत के सव धर्मो को मान्य है। पर जव हम उस सिद्धांत के पालन की ओर देखते है तो हमें स्वीकार करना पड़ता है कि उसके पालन में, उसको आचरण में लाने में जैनियों की अन्य कोई धर्मावलम्वी वरावरी नहीं कर सकते। यही वात अन्य

सिद्धांतों या उनके अनुसार आचरण के लिए कही जा सकती है। साधु अन्य धर्मों में भी है पर इतना कठोर त्याग और संयम नजर नही आता है। पूर्णतः कठोर संयम पालक साध्विया तो अन्य धर्मों मे प्राय नहीं ही है। इसका यही कारण हो सकता है कि ये सब सिद्धांत जैन धर्म की तो निजी पूंजी है पर अन्य धर्मो ने तो उन सिद्धातो के महत्व को जैसे-जैसे समझा वैसे-वैसे वे आंशिक रूप से उन्हे अ गीकार करते गये।

निष्पक्षपात दृष्टि से देखा जाय तो इतिहास भी जैन धर्म के इस महत्व की साक्षी देता है। भारत के जैन और बौद्ध धर्म के सिवाय अन्य धर्म वेदों से ही निकले है। वेद आर्यो के धर्म ग्रन्थ है और आर्य भारत के बाहर से आये है। जैन धर्म महावीर से भी पहले से ही भारत मे चलता आया है, उसने वेदो का तो विरोध किया है विशेष कर वेदो के बताये हुये पशु वली का। पशुबली वाला धर्म अहिसा का श्रोत नही हो सकता। जैन आर्यो के भारत मे आने से पहले ही भारत में एक सुसंस्कृत सुव्यस्थित समाज के रूप में मौजूद थे। यह एक ऐतिहासिक सत्य है जिसके समर्थन में आगे उद्धरण दिये जायेंगे। अर्थात् अहिसा की मान्यता भारत मे आर्यो के आने से पहले ही मौजूद थी।

आर्य बाहर से केवल भारत में ही नही आये थे किन्तु अन्य देशो में भी गये थे, जो आज योरप के देश है। योरप के उन देशों मे जहाँ आर्य गये वहाँ कही भी त्याग संयम प्रधान

सभ्यता या संस्कृति नही थी, वे सब भोग प्रधान ही थे और है। तव भारत में आने वाले आर्यो का धर्म या सभ्यता या सस्कृति कैसे त्याग सयम प्रधान हो सकती है। इससे यही फलित होता है कि भारत मे आर्यो के आने से पहले से ही त्याग सयम प्रधान सस्कृति थी जिसका श्रेय जैन धर्म को था। आर्य भी भारत मे आकर जैन धर्म की सस्कृति से प्रभावित हुये और इस प्रकार त्याग संयम प्रधान भारतीय या हिन्दू सस्कृति वनी है, अर्थात् हिन्दू धर्म में या हिन्दू संस्कृति में जो त्याग, सयम, करुणा आदि गुण है वे जैन धर्म में से ही आये है।

कुछ इतिहासज्ञो के अनुसार आर्य भारत के ही मूल निवासी है बाहर से नही आये है। इससे भी जो हम लिख रहे है उसके तथ्य में अन्तर नही पड़ता। वैदिक धर्म में से ही यहाँ कई दर्शनों और धर्मो का प्रादुर्भाव हुआ, जो जैन धर्म के बताये हुये प्राकृतिक नियमों पर आधारित सिद्धात है वे किसी न किसी रूप में सब दर्शनो और धर्मो मे है पर जैन धर्म मे है वैसे सुसंगठित रूप में वे अन्य धर्मो में नही पाये जाते है। उदाहरण अहिंसा परमोधर्म का सिद्धाँत सब धर्मो को मान्य है पर उस विशाल रूप में नहीं जैसा जैन धर्म मे। जैन धर्म अपनी अनेकान्तवाद नीति के आधार पर अन्य धर्मो और दर्शनों के सिद्धात में समन्वय करता है और यह कहता है कि सवका ध्येय एक ही है। श्री सिद्धर्पि गणि ने इस भिन्नता का कारण इन शब्दों में बताया है—"भिन्न-भिन्न प्राणियों की रुचि भिन्न होती है। किसी की चित्त शुद्धि एक आवलम्बन से होती है किसी को दूसरे से इसलिये अंत करण शुद्धि करने

वाली आत्म विकास की देशना (उपदेश) अनेक प्रकार की होती है ।

जैन धर्म सुव्यवस्थित विचारधारा और धर्म के अनुसार आचरण की सुसंगठित योजना, उसकी निराग्रही विचारधारा और उसकी युक्ति, बुद्धि और अनुभव पर आधारित सब बातें, केवल विद्वानों या शास्त्रों के आधार पर नही बन सकती है । यह तो उन पर लम्बी परम्परा के आचरण से ही ऐसी स्थिति प्राप्त कर सकती है । इसके लिये २५०० वर्ष की परम्परा काफी नहीं कही जा सकती । यदि इतना सा समय काफी होता तो भारत में और भी कई व्यवस्थित परम्पराएँ बन जाती, पर ऐसा तो हम नहीं देखते है । इससे यही मानना होगा कि जैन विचारधारा भारत में आर्यो के आने से भी कई हजार वर्षों पहले की है । मनुष्य के हजारो वर्षों के अनुभव ने उस विचारधारा को संसार मे कल्याणकारी पाया, इसीलिये भारत के सब धर्म उनको किसी न किसी रूप मे मानने लगे । जैन धर्म की इस प्राचीनता के समर्थन में हम कुछ ऐतिहासिक तथ्य श्रमण मासिक के फरवरी १९७१ के अक में श्री ,गणेशप्रसाद जैन के 'द्राविड' शीर्षक लेख से उद्धृत करते हैं । " 'द्रविड़' अपने इष्ट देव को अर्हन, जिन, परमेष्ठी एव ईश्वर के नाम से अभिमित करते थे । जीवन शुद्धि के लिये अहिंसा एव सयम और तपोमार्ग के अनुयायी थे । इतना ही नही, वे सासारिक अभ्युदय से विरक्त हो त्यागी, भिक्षाचारी एवं अरण्यवासी बन चुके थे । अर्हन्,

जिन, परमेष्ठी एव ईश्वर का निर्विकार आदर्श ही उनके जीवन का परम आदर्श था।"

"वैदिक साहित्य के अनुशीलन से पता चलता है कि वैदिक आर्यगण एशिया और मध्य एशिया के देशो से लगभग ३००० वर्ष पूर्व पजाव में आये थे। उस समय, पहले से ही द्रविड़ लोग गान्धार से विदेह (मध्य देश) तक तथा पांचाल से दक्षिण के मध्य देश तक अनेक जातियों में विभक्त होकर विभिन्न जन पदों में निवास कर रहे थे। उनकी सभ्यता पूर्ण विकसित एवं समुन्नत थी और लोक जीवन सर्वांशतः सुव्यवस्थित था।

"अज्ञात समय से उत्तरी पश्चिम और उत्तरी व मध्य भारत तुरानियों (द्राविड़ों) का था, उनके शासन मे था और वहा वृक्ष, सर्प और लिंग की पूजा का प्रसार था। किन्तु उस समय में भी भारत में एक प्राचीन और अत्यन्त सगठित धर्म प्रचारित था जिसका उच्च कोटि का सिद्धांत सदाचार और कठिन तपश्चरण था अर्थात् जैन धर्म, जिसमें मे ब्राह्मण और बौद्ध धर्म के पुराने तपस्वियों के आचार स्पष्ट उद्धृत किये गये है (Short studies of Comparative Religion pp 243-244)

"वीसवी शताब्दी के खोजों के फलस्वरूप यह मान लिया गया है कि आर्यो के भारत प्रवेश समय से वहुत सी शताब्दियों पूर्व सिन्धु घाटी मे एक आश्चर्यजनक (आर्यपूर्व) सभ्यता वर्तमान थी और वह वेदकालीन सभ्यता से उच्चतर थी।"

उपरोक्त तथ्य प्रमाणित करते है कि द्रविड़, जैन धर्माव-लम्वी है और वे भारत के आदिवासी है।"

इतना होने पर भी आज के भारतीय विद्वान ऐतिहासिक पुस्तके लिखते समय जैन धर्म और उसके महत्व की उपेक्षा करके भारतीय सस्कृति के एक महत्वपूर्ण श्रोत् को जनता की दृष्टि से ओझल कर देते हैं और उसके लाभ से वञ्चित रखते है और इससे भी वडे खेद की वात यह हे कि जैन विद्वान भी आत्महीनता से प्रभावित हो इसी स्थिति को स्वीकार किये वैठे है।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उससे हर दृष्टि से जैन धर्म और सिद्धान्तों के महत्व का कुछ अन्दाजा लगता है। इस विषय पर शोध खोज करके निबध लिखे जाने की आवश्यकता है जिससे केवल जैनी ही नही किन्तु सारी जनता जान सके कि किस तरह भूतकाल में जैन धर्म के महापुरुषों ने और आचार्यो ने जगत् को कल्याणकारी मार्ग वताया, और किस प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करे तो जैन सिद्धात और अनुष्ठान मनुष्य के चरित्र गठन मे तथा समाज मे उच्च सस्कार उत्पन्न करने में महान् उपयोगी हुये है और भविष्य मे भी हो सकते है। हमारे विद्वान आचार्यो तथा धर्म प्रेमियो और आधुनिक उच्च शिक्षा प्राप्त, विश्व विद्यालयो से (D. Litt, Ph D. D Phil) इत्यादि डिग्रियो के लिये शोध प्रवंध लिखने वाले विद्वानो को इस ओर ध्यान देना चाहिये।

जैन धर्म और सिद्धान्तो को एक जाति विशेष की सम्पत्ति बनाकर ससार को उसके लाभ से वचित नही कर

देना चाहिये। परन्तु उसके सिद्धांत इस रूप में जनता के सामने रखने चाहिये जिससे बिना साम्प्रदायिक भेद-भाव के सब जनता विना हिचकिचाहट के उनसे प्रेरणा प्राप्त कर इसी जीवन मे, इसी लोक मे लाभ उठायें। भगवान् महावीर की परिषद बिना किसी प्रकार के भेदभाद के सब जनता के लिये खुली थी और वे उपदेश भी ऐसी भाषा मे देते थे जिससे सब जनता समझ सके।

जैन सिद्धात अन्ध विश्वास पर आधारित नहीं है किन्तु युक्ति, वुद्धि और अनुभव पर आधारित है। हजारो वर्षों से उनका मूल रूप में बने रहना और त्यागियों की परम्परा का चालू रहना, उनकी जीवन शक्ति और जीवनदायिनी शक्ति का द्योतक है। आज बुद्धिवाद काल में जैन सिद्धांत सच्चे रूप मे रखे जाने से वे सब को मान्य और आदरणीय हो सकते है।

जैन धर्म का सार सीधी सादी भाषा में यह है—हिंसा मनुष्य को क्रूर बनाती है, और क्रूरता संसार में वैमनस्य, पारस्परिक लड़ाई झगड़ों और हत्या तक का कारण बन जाती है। क्रूरता शान्ति और सुख की दुश्मन है। झूठ, चोरी, असामाजिक प्रवृत्तियों को उत्तेजित करती है। धोखेबाजी, जालसाजी, कालेबाजारी, करों की चोरी इत्यादि इन्ही के परिणाम हैं। यह समाज की दुर्गति ही कराते है। विषय-वासना विवेक गुमाकर समाज में व्यभिचार को प्रोत्साहन देकर समाज का सर्व नाश करती है। और परिग्रह अर्थात् धन वृद्धि आदि की असीम लालसा समाज मे झूठ और चोरी

को तो प्रोत्साहित करती ही है, पर साथ मे समाज मे असतोष, असमानताएं विषमताए पैदा कर पारस्परिक कलह उत्पन्न करती हैं। ऋद्धि और धन विषय वासना को उत्तेजित करते है और विषय वासना धन की इच्छा को। और ये दोनों ऐसी वस्तुएं है कि वे कितनी भी मिले मनुष्य को उनसे तृप्ति नही होती और वह अन्धा होकर अधिकाधिक की ओर दौड़ता है। यह स्थिति ससार के लिये हितकारी नही। ये दोष संसार मे क्लेश, सघर्ष, युद्ध और विनाश का वातावरण पैदा करते हैं।

इन कुप्रवृत्तियों पर अकुश रखना ही संसार के हित मे है। इन दुर्गुणो के विरोधी भावों को उत्तेजना देना ही इनको अ कुश में रखने का एक मात्र उपाय है। यह विरोधी भाव है—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्म और अपरिग्रह तथा मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्यभाव। इन भावों के अनुकूल जीवन बनाना ही जैन धर्म का मन्तव्य है। कोई भी बुद्धि वादी इस मन्तव्य का विरोध नही कर सका।

इन्ही दुर्गुणो के सहयोगी है, क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्षा, निन्दा, राग, द्वेष, मोह आदि कुमनोभाव। ये भी मनुष्य समाज के लिए अहितकारी ही हैं। इन पर भी नियत्रण रखना जैन धर्म का उद्देश्य है। इनके विपरीत गुणो द्वारा ही ये दबाये जा सकते हैं। ये विपरीत गुण है—क्षमा, सरलता निर्मलता, निर्लोभता, निरदभता इत्यादि।

इन दुर्गुणो को मिटाने और सद्गुणो के विकास करने अर्थात् समभाव प्राप्ति के लिए जैन धर्म ने अनेक अनुष्ठानो

की योजनाये बनाई है। जैसे उच्च आत्मबल वाले लोगों अर्थात् साधुओं के लिए पाँच महाव्रत, साधारण लोगों के लिए पाँच अणुव्रत और उनके सहायक सात दिग्व्रत और शिक्षाव्रत हैं। यह जीवन को नियमित (Self disciplined & with regular habits) बनाना है। जीवन नियमित होने से शरीर स्वस्थ रहता है और मानसिक शक्तियाँ और व्यक्तित्व भी विकसित और प्रभावशाली बनता है। इससे गृहस्थ जीवन में भी सफलता मिलती है, सन्मान मिलता है और शान्ति मिलती है। जीवन नियन्त्रित बनाने के लिए सबसे पहले जिह्वा इन्द्रिय पर आत्म नियन्त्रण आवश्यक है। यह नियन्त्रण अन्य इन्द्रियो को वश मे करने का पहला सोपान है। इसी उद्देश्य से जैन धर्म मे व्रतो, उपवासो की योजना है। अणुव्रती का ध्येय तो महाव्रती होने का ही होता है। इसलिये वह प्रतिदिन अल्प समय के लिए महाव्रती बनता है, पूर्ण समभाव धारण करने की चेष्टा करता है। इस अनुष्ठान को सामायिक कहते है। मनुष्य को सदा अपने आचरण पर सावधानी से नजर रखना चाहिये कि कही उसमे हिंसादि दोष न आ जावे, जीवन नियमित करने में कही भूल न हो जाय, जो नियम स्वीकार किये है वे कही भंग न हो जाय। इस आत्म निरीक्षण को ही प्रतिक्रमण कहते है। कौन बुद्धिवादी या नास्तिक इन योजनाओ मे दोप निकाल सकता है। केवल दुराग्रही स्वार्थी बुद्धिवाला जिसको समाज के हित का कुछ भी विचार नही इनको अमान्य कर सकता है।

जैन धर्म बहुत उच्च नैतिक जीवन मांगता है। प्रसिद्ध

महान् जैनाचार्य श्री हरिभद्रसूरि के अनुसार अनीति से धन उपार्जन करने वाले को भगवान् की प्रतिमा के सामने वदन-नमस्कार करने तक का भी अधिकार नही है।

ऐसा भी नही है कि अमुक अनुष्ठान करना भगवान् की आज्ञा है और इन्हे न करने से भगवान् कुपित हो जाते हैं। किन्तु भगवान् महावीर ने न तो किसी बात का आदेश दिया है और न किसी बात की मनाही की है। उन्होंने तो केवल प्राकृतिक नियम ससार को बतलाए है और मनुष्य स्वतन्त्र है उनको माने या न माने। प्राकृतिक नियम अपना काम करते रहेगे और उनका फल मनुष्य को भोगना ही पड़ेगा। प्रकृति किसी को उसके नियम भग के लिए क्षमा नही करती है। जैन धर्म मनुष्य को स्वतन्त्र मानता है कि अपने चित्त की शुद्धि जैसे उसे उचित लगे करे, यह आवश्यक नही कि जैन शास्त्रों में जो क्रियाये लिखी है वेही करे। यदि अन्य प्रकार से चित्त शुद्धि का आदर्श प्राप्त होता है तो वह वैसे करने को स्वतन्त्र है। जैन धर्म का यह भी मानना है कि सिद्धान्त तो प्राकृतिक नियमो की तरह शाश्वत है उनमें फेर फार नही हो सकता पर उसके पालन मे मनुष्य को देश, काल, भाव का सदा ध्यान रखना चाहिए नहीं तो वह उनके पालन मे सफल नही होगा।

जैन धर्म के अनुसार मनुष्य का भविष्य स्वय उसी के हाथ मे है, वह किसी अन्य पर निर्भर नही है, उसे किसी दूसरे का मुँह ताकने को आवश्यकता नही। वह अपने ही

पुरुषार्थ से अपने अवगुण मिटा सकता है और सद्‌गुण प्राप्त करता हुआ आत्मविकास के मार्ग पर प्रगति करता हुआ पूर्णता प्राप्त कर शुद्ध आत्म-परमात्मा बन सकता है।

पूर्वकाल मे अनेक पुरुषो ने इस प्रकार परमात्मपद प्राप्त किया है। उनके प्रयासो को याद कर, उनके गुणों को याद कर, उनके चित्र, प्रतिमा आदि पर दृष्टि लगाकर अपने आत्म विकास की प्रेरणा पा सकता है—Lives of great men all remind us we can make over lives sublime. महान् पुरुषों के जीवन से हम भी अपना जीवन विकास कर सकते है।

आज भी ऐसे महान् पुरुष है जो अपना जीवन इसी आत्म शुद्धि में लगाए हुए है। हम यदि उनके गुणो को समझकर पहचाने तो उनसे सम्पर्क स्थापन करके हम भी लाभ उठा सकते हैं।

इस प्रकार जैन धर्म जैसा वैज्ञानिक धर्म आज के बुद्धि-वादी समय के लिए बिलकुल अनुकूल है। इन्ही जैन सिद्धातों पर भारतीय त्याग-संयम प्रधान सभ्यता खड़ी हुई है और भारत को आज तक जीवित रखे हुए है। पर आज जैन धर्म की वह जीवनदायिनी कल्याणकारी शक्ति और विशेषताये हमारे अज्ञान से हमारी दृष्टि से ओझल हो गई है। हमने उसे केवल प्रभावहीन जड़ क्रियाओ का समूह बना दिया है। इन्ही कारणों से अहिंसा के महान् सिद्धाँत, कायरता पोषक कहलाने लगे। ऐसे ही कारणो से जैन कुल मे जन्मे हुए स्व० लाला

लाजपतराय ने भारत के पतन का दोष जैन धर्म के सिर पर रखा। यह तो महात्मा गांधी ने अहिंसा के महत्व को पुनः प्रकाशित किया जिससे अहिंसा शब्द का संसार भर में प्रयोग होने लगा है।

जैन धर्म के सच्चे रूप के ओझल हो जाने का एक यह भी भयंकर परिणाम हुआ है कि जैन कुटुम्ब में पैदा हुये नवयुवकों की श्रद्धा और रुचि जैन धर्म से उठती जाने लगी है और जैन धर्मानुसार आचरण करने मे उन्हे आत्महीनता अनुभव होती है और अपने आपको आधुनिक तथा यथा कथित उन्नति पर अग्रसर होते हुये संसार के योग्य कहलाने के लिए वे अंडा आहार और मॉसाहार की ओर प्रवृत्त होने लगे है।

यदि हमारे विद्वान् मुनिराजो और विदुषी साध्वियों को अपना कठोर त्याग और सयम सार्थक करना है और भगवान् के वनाये हुए स्व-पर कल्याण की साधना करनी है तो जैन धर्म का असली जन कल्याणकारी रूप दुनिया के सामने रखे। उन्हे चाहिए कि जैन धर्म नई पीढी से अंधश्रद्धा और अंध भक्ति की आशा न रखकर धर्म का कल्याणकारो रूप और उसका कल्याणकारी इतिहास, उनकी बुद्धि मे आ सके इस प्रकार रखे जिससे उनकी आत्महीनता का भाव हटकर गर्व और उत्साह का भाव जागृत हो।

प्रायः धर्म परलोक सुधारने वाला माना जाता है। पर जैन धर्म तो इस लोक और परलोक दोनो सुधारने वाला माना जाता है। जैन धर्म का ध्येय है आत्मा के गुणों का

विकास, आत्म शुद्धि करना। मनुष्य की मृत्यु के समय उसकी आत्मा में जो भी गुण होंगे, वे उसके पुनर्जन्म मे साथ जायेंगे। यदि अवगुण होंगे तो वे भी साथ जायेंगे। इसलिए यदि धर्म मनुष्य के इसी जीवन में उसकी आत्मा में गुण का विकास करके उसका हित नही करेगा तो परलोक में उसकी आत्मा कैसे सुधरेगी इसलिए परलोक परोक्ष सुख का लोभ न देकर धर्म द्वारा इसी जीवन मे आत्मशुद्धि के कारण चित्त शान्ति और समभाव द्वारा सुख का मार्ग बताना चाहिए। जैन धर्म के अनुसार जन्मान्तर में सुख वैभव स्वर्गादि की आशा से धर्म कार्य करना निन्दनीय बताया गया है। धर्म का उद्देश्य तो अपनी आत्मा को उच्च उच्चतर बनाना ही है और यही इसी जन्म मे और जन्मान्तरो मे सुख का कारण हो सकता है।

जैन धर्म का इतना बुद्धि और अनुभव आधारित, अन्ध-विश्वासों से दूर स्वाभाविक धर्म होते हुए भी तथा भारतीय सस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र मे योगदान ही नही किन्तु कई दृष्टियो से सस्कृति का आधार होते हुए भी तथा प्रत्येक काल मे मनुष्य समाज को पतन से रोक कर ऊपर उठाने वाला होते हुए भी आज उसकी उपेक्षा क्यो और यह उपेक्षा अन्य धर्मावलम्बियों में ही नही किन्तु स्वय जैन समाज मे भी है। यह कितने खेद की बात है। इसके गौरवपूर्ण भूतकाल के इतिहास से जिसके अनेको विश्वसनीय प्रमाण वर्तमान है हम स्वय अपरिचित है और इसीलिए एक प्रकार की आत्महीनता अनुभव करते है। हमारे विद्वान साधु और गृहस्थ विद्वत्ता-

पूर्ण अनेक लेख लिख लिख कर जैन पत्र-पत्रिकाओ में ही प्रकाशित करते है जो आम जनता तक या अजैन विद्वानो तक नही पहुँचते है किन्तु शीघ्र ही रद्दी की टोकरी मे फेंक दिये जाते है और वे लेख भी इस प्रकार से लिखे जाते है जिनमें अजैनो के मन मे कोई रस उत्पन्न नही होता। और इस प्रकार जैन धर्म के महत्वपूर्ण सिद्धान्तो और पूर्व इतिहास से हम स्वय ही अपरिचित है तव हमारी और हमारे धर्म की उपेक्षा होना स्वाभाविक ही है।

यदि हमारे विद्वान जैन धर्म को एक बाडे में बन्द रखकर जैसा कि हम संकीर्ण दृष्टि से लिखे साहित्य और उत्सवों आदि द्वारा कर रहे है उसे संसार का और कम-से-कम पूरे भारत की वस्तु मान कर हमारे साहित्यिक, दार्शनिक ऐतिहासिक लेख या पुस्तके प्रकाशित करे तो लोगों को उसका उपकारी ज्ञान हो सकता है। इसी प्रकार सब महत्व-पूर्ण लेखो को योग्यतापूर्वक संगठित करके पुस्तक रूप में प्रकाशित करें तो स्थाई रूप से प्रभावकारी हो सकते है। इसी तरह ऐतिहासिक लेखों को इस प्रकार सम्पादन किया जाये कि प्रत्येक एक शताब्दी मे क्रमवार किस प्रकार भारतीय संस्कृति के भिन्न भिन्न क्षेत्रों को जैन धर्म ने सिंचित किया तो भारत का इतिहास लिखने वाले उनके महत्व को उपेक्षा नही कर सकते।

३–जैन धर्म के प्रति नई पीढ़ी की उदासीनता के कारण

जैन धर्म असली रूप में न बतलाने तथा उचित रीति से धार्मिक शिक्षा न देने के परिणाम

हम एक धर्म भावनाशील, समाज हित चिन्तक कार्यकर्ता श्री मनसुखलाल ताराचन्द मेहता के जैन साहित्य शिक्षण पत्रिका में तथा भावनगर के जैन पत्र के २० दिसम्बर, १९६९ के अक में प्रकाशित लेख से उद्धरण यहा देते है:—

जैन धार्मिक शिक्षण संघ वम्बई द्वारा आयोजित "जैन समाज की वर्तमान परिस्थिति-तेना उत्कर्ष माटे रचनात्मक योजनाओं" पर की निबन्ध प्रतियोगिता में सब मिलाकर ६३ विद्यार्थी छात्र-छात्राओ ने भाग लिया था। उनमें ३२ छात्राए और ३१ छात्र है। ३२ छात्राओं में से १० कालेजों मे और शेष हाई स्कूल में अभ्यास करती हैं, कितनी ही छात्राएं ग्रेज्युएट भी है। ३१ छात्रों में से ८ कालेज में और बाकी हाई स्कूल में अभ्यास करते हैं।

उनके निवन्धों से पता लगा कि जैन समाज की स्थिति का जितना ज्ञान समाज में नही है उससे बहुत ऊँचे दर्जे का इस सम्बन्ध में ज्ञान हमारे युवक युवतियों में है और यह

जैन समाज के लिए बहुत गौरव की बात है। छात्र-छात्राओं ने अपनी श्रमण संस्था के विषय में भी रचनात्मक विचार प्रकट किये है।

एम. ए. में अभ्यास करती एक बहिन इस विषय पर लिखती है कि यह कहते अति दु:ख होता है कि जो प्रभु महावीर के सच्चे उत्तराधिकारी है, जिनके हाथो मे पूरे शासन और समाज की वागडोर है, ऐसे साधु साध्वियों मे आज अनेक प्रकार के दूषण और क्लेश घुस गये है।

एक छात्रा बहन लिखती है, 'प्रभु के सीधे उत्तराधिकारी गिने जाने वाले मुनिराजों और साध्वियो की सख्या मे प्रतिदिन वृद्धि देखने में आती है किन्तु संयम के शुद्ध आचार बहुत शायद ही नजर आते है। आत्म साधना की बात आज भुला दी गई है और तिथि जैसी सारहीन वातों में फंसकर महान् शक्ति का नाश कर रहे है।

बी. ए. की एक छात्रा लिखती है—आज दु:ख के साथ लिखना पड़ता है, कि वहुत से साधु महाराज कर्तव्य विमुख हो गये है और अन्तर की आवाज को मान देकर देशना देने के बदले अपने स्वार्थ पूर्ति देशना ही देते है।

इन्टर साइंस का एक विद्यार्थी भाई लिखता है "अपनी आधार शिला गिनी जाने वाली साधु संस्था, वाद विवाद, तिथि चर्चा इत्यादि में फंस गई है। मुझे तो लगता है कि साधु संस्था में यदि यही प्रवृत्ति रही तो १८००० वर्ष चलने वाला महावीर शासन १८ वर्षो में समाप्त हो जायगा।

आचार्य महाराजों को बुलाना एक हस्ती को आंगन में बांधना है। उनके लिये बैंड बाजा चाहिये, सत्कार समारंभ चाहिये। क्या यह आचार है ? साधु सम्प्रदाय को अपने भीतरी विवाद भूलकर समाज कल्याण के लिये एकत्र होने की आवश्यकता है। साधु संस्था मानव को निजी मानव धर्म का कर्तव्य बताने की है।"

जगत् में किसी भी सम्प्रदाय के साधुओ की अपेक्षा जैन सम्प्रदाय के साधु साध्वियों का त्याग, तप, सयम श्रेष्ठ है, इसमे किसी भी प्रकार का विवाद नही। परन्तु इसीलिये दीक्षा देने से पहले उस पद के लिये उनकी योग्यता की कसोटी पर परीक्षा होना आवश्यक है। इस विषय पर एक छात्रा बहन लिखती है—"बहुत साधु व साध्वियाँ सयम मार्ग पर चल कर पुनः विषयों मे पड़कर उनका त्याग कर देती हैं। यह बात रोकना आवश्यक है। इसलिये दीक्षार्थी की अच्छी तरह परीक्षा करनी चाहिये कि उसमें वैराग्य दीपक कैसा ज्वलंत है। यह परीक्षा लम्बे समय तक करने के पश्चात् ही दीक्षा देनी चाहिये"।

वर्तमान काल में जैन समाज में तपस्याऐ बहुत बढ़ती हुई देखने मे आती है। बी. एससी. कक्षा की एक छात्रा ने इस विषय मे बहुत ध्यान मे रखने जैसी एक बात लिखी है—

आजकल देखें तो लोगों के जीवन में तपश्चर्या बहुत प्रमाण मे हो रही है और वे छोटे-छोटे बालकों द्वारा की जाती है जो अनुमोदनीय है परन्तु कई जगह तो देखा देखी

ईर्षा आडम्बर से तपस्याएं होती है और अपनी शक्ति और संयोगों पर विचार किये विना, बिना समझे इस क्षेत्र मे घुस जाते है, यह उचित नहीं। मासक्षमण, सिद्धि तप जैसी कठिन तपस्याएं होती है, इस पर भी कई बार इनमें पवित्रता, कर्म निर्जरा, निष्काम भावना तथा श्रद्धा के बदले संसारी सकाम भावना होने के कारण वास्तविक फल नही मिल सकता। इस बहन की टीका यथार्थ है। पूज्य उपाध्याय यशोविजयजी महाराज ने भी कहा है कि जिस तप में कषाय का रोध, ब्रह्मचर्य का पालन और वीतराग देव का ध्यान होता है वही तप शुद्ध है, अन्य सब तो लंघन मात्र हैं।

यही छात्रा बहन धार्मिक अनुष्ठानों के सम्बन्ध में भी भारपूर्वक लिखती है "अबतक अर्थात् पहले की अपेक्षा धार्मिक अनुष्ठान जैसे शान्ति स्नात्र, सिद्धचक्रपूजन इत्यादि अधिक हो रहे हैं तब भी जीवन में जगत् में शान्ति कम हुई है? इसका कारण लोगों की आन्तरिक भावना, श्रद्धा, विश्वास तथा अनुष्ठानों में आवश्यक शुद्धि में कमी आई है। पहले बाहरी दिखावे की अपेक्षा आन्तरिक भावना प्रबल होती थी।" लब्धि, कीर्ति आदि स्पृहा तथा संसारी भोगों के प्रति निस्पृहता परन्तु परभव मे दिव्य भोगों के भोगने की अभिलाषा से किये अनुष्ठानों को शास्त्रों में विष-अनुष्ठान कहा है और त्याज्य बतलाया है।

धनवानों की हलकी मनोवृत्ति तथा उनके दूषित व्यवहार के आगे, बड़ी संख्या में विद्यार्थी भाई बहनों के मन मे भरी अग्नि उनकी उग्र भाषा से स्पष्ट प्रतीत होती है। इस प्रकार

एक अभ्यासी छात्रा बहिन ने कदाचित् नग्न सत्य कहते हुए लिखा है कि जिस समाज के श्रीमन्त लक्ष्मी के गुलाम हों वह समाज कदापि उन्नति नही कर सकता है।

इन्टर आर्ट्स की एक छात्रा बहन लिखती है "भगवान् के देहरासर में प्रत्येक प्रसंग पर घी की बोलियों में प्रतिष्ठा और महोत्सवो मे, काले बाजार का ही पैसा लगता है। इसमें फिर सच्ची भावना हो ही कहां से सकती है।"

इन सब उत्तर पत्रों को बहुत ध्यान से रसपूर्वक मैंने पढ़े है। उनकी समीक्षा एक ही वाक्य में की जाय तो मैं कहूँगा कि जैन समाज के प्रमुख और नेताओं को अपने युवक पीढ़ी को जो कुछ समझाना और सिखाने का है उससे अपनी उस युवक प्रजा से अनेक गुणा अधिक सीखने और समझने का है। एक बहन इस सम्बन्ध में लिखती है, युवकों की मनोगति समझना चाहिये, उस पर विचार करना चाहिये, वे कहे उस ओर लक्ष्य रखना चाहिये, उनकी भूल हो तो मार्गदर्शन कराना चाहिये परन्तु उनको नीचे नहीं पटक देना चाहिये।

उपरोक्त लेख पर "जैन" के सम्पादकीय लेख से हम नीचे उद्धरण देते हैं जो ध्यान देने योग्य है—"विज्ञान ने नई पीढी की बुद्धि को परिणाम लक्ष्मी बना दी है और यह परिणाम किसी धर्म क्रिया का परोक्ष या परलोक में मिलने वाला नही किन्तु अपनी दृष्टि के सामने की दुनिया में ही मिलने वाला तथा उनको प्रभावित करने वाला परिणाम

होना चाहिये । यह सब देखते है कि धार्मिक क्रियाओं और विधि विधानों का पूर्ण रूप से पालन करने वाला व्यक्ति, बिना संकोच अनीति, अप्रामाणिकता, असत्य, अन्याय, अनाचार पूर्ण अधार्मिक आचरण करता है तब उनकी अन्तंरात्मा चिल्लाती है कि यह क्या हो रहा है ? नई पीढ़ी को धर्म की ओर आकर्षित करने का उपाय यह है कि इनके सामने सच्चरित्रता का जीवित आदर्श रखा जाय और बाह्य क्रिया कांडो और आडम्बरों को बहुत ही गौण बना दिया जाय ।

उपरोक्त तरह की धार्मिकता के बहुत कटु और भयकर परिणाम निकल रहे है वे पाठक अब आगे पढ़े ।

४—जैन धर्म की आत्मा की उपेक्षा के घातक परिणाम

प्राय: सुना जाता है कि पारम्परिक निरामिषाहारी परिवारो में अण्डा और मांसाहार प्रवेश कर रहा है, केवल अजैन परिवारो मे ही नही किन्तु जैन परिवारों में भी ऐसा सुना जाता है और मासाहार के विरुद्ध लोकमत निर्बल होता जाता है। अपने भाषणो मे जैन मुनिराज भी यह शिकायत करने लगे है। खेद तो यह है कि इस मांसाहार प्रवेश के विरोध मे कोई क्रियात्मक ठोस कार्य की ओर किसी का भी ध्यान नही है और केवल खेद प्रकाश से कुछ भी होने का नही है।

मासाहार निषेध केवल अहिसा सिद्धान्त पर ही आधारित हुआ है और अहिसा, जैन धर्म का मूल सिद्धांत है। इसलिए भारत में निरामिषाहार प्रचार का श्रेय जैन धर्म और जैन महानाचार्यो को ही है। और यह ऐतिहासिक बात सर्व मान्य है। उन महानाचार्यों का इतना प्रभाव पड़ा कि कई अजैन जातियों ने भी मांसाहार का त्याग कर दिया। कई मासाहारी जातियों मे स्त्रिया मास नही खाती और कई जातियों मे विधवाये मासाहार त्याग देती है। इसका अर्थ यही हो सकता है कि सिद्धात रूप से निरामिषाहार ही उत्तम समझा जाता

है। इस अहिंसा के उपदेश के प्रभाव से ही भारतीय आम जनता में अन्य देशों की जनता की अपेक्षा दया भाव अधिक है। और भारतीय सभ्यता और संस्कृति भी अहिंसा, संयम व त्याग प्रधान है और इसी कारण आज तक जीवित है। जैन धर्म और अहिसा, ऐतिहासिक शोध खोज के अनुसार भारत में आर्यों के आने से हजारो वर्षो पहले से चले आये है और यही इनकी जीवन शक्ति के प्रमाण है।

धर्म सिद्धातों का प्रभाव दो बातों पर आधारित होता है। एक तो धर्मोपदेशको के चारित्र बल पर और दूसरा धर्म सिद्धांतो का जनता के सामने इस रूप में रखा जाना कि जनता अपनी बुद्धि और अपने अनुभव से उनकी उपयोगिता तथा उनका कल्याणकारी होना समझ सके और यह भी समझ ले कि वे व्यवहारिक है, उनके जीवन में उतारे जा सकते हैं और गृहस्थ जीवनयापन में किसी भी तरह बाधक नही है किन्तु सहायक हैं।

प्राचीन काल में ऐसे चारित्र बल और आत्मबल वाले आचार्य थे और उन्हे देश काल की भी परख थी। उनके उपदेश जनता को प्रभावित करते थे और जनता उन उपदेशो का पालन करना गौरव की दृष्टि से देखती थी। इन्ही कारणो से भारत मे जैन धर्म हर क्षेत्र में इतना प्रभावशाली और कल्याणकारी और गौरवपूर्ण बना कि उसको साक्षी रूप मे अनेक बाते मौजूद है।

परन्तु आज स्थिति दूसरो हो है। आज न तो जनाचार्यो में वह चारित्र बल है और न ऐसा धर्मोपदेश ही दिया जाता

है जो देश काल के अनुरूप होकर जीवन को प्रभावित् करे। आज तो केवल जड़ और भावहीन प्रथा रूप क्रियाये ही धर्म बन गई हैं। उनका न तो जीवन शुद्धि, चित्त शुद्धि, भावना शुद्धि से सम्बन्ध है और न आत्म शुद्धि से। सबका ध्येय केवल सांसारिक कीर्ति इत्यादि प्राप्त करना है। तब धर्मोपदेशकों में उच्च चारित्र बल कहाँ से आ सकता है।

जैन धर्म मे धार्मिक उपदेश, व्रत, नियम इत्यादि लेने के लिए अमुक योग्यता की आवश्यकता बतलाई गई है। श्रावक के अणुव्रत भी अमुक योग्यता वाले व्यक्ति को ही देने की आज्ञा है। यहां तक कि भगवान् महावीर के परम भक्त राजा श्रेणिक को भी भगवान् ने अणुव्रतों के योग्य नही माना और वह अव्रती श्रावक ही रहा। पर आज तो श्रावक के व्रत अणुव्रत एक खेल मात्र ही हो गये है। अणुव्रतों का अधिकारी केवल सम्यक्तवी ही हो सकता है पर आज अणुव्रत के लिए मिथ्यात्वी भी पात्र बन गये है। इस प्रकार वह एक थोथे प्रचार, प्रोपेगण्डा का साधन मात्र बन गया है तब दीक्षा देने मे योग्यता का प्रश्न ही नही उठ सकता। ऐसी दशा मे धर्मोपदेशकों मे उच्च चारित्र बल या आत्मबल की आशा ही निरर्थक है। हमारे धर्मगुरुओं का ध्येय तो प्राय: जनता मे अंधभक्ति द्वारा निज के स्वागत समारोह या पदवियाँ प्राप्त करना मात्र रह गया है। यहा तक कि यह रोग एक विशेष जैन सम्प्रदाय में भी जो अब तक इससे मुक्त था, आ गया है। चारित्र बल और आत्म बल महान् त्याग मागता है। केवल घर बार धन सम्पत्ति का ही नही किन्तु कीर्ति, लालसा,

अभिमान इत्यादि दुर्गुणों का भी। चारित्र बल के लिए भावना चाहिये—मान अपमान सम गणे, सम गणे कनक पाखान रे।

अब आज जैन धर्म का क्या रूप है, यह भी एक सर्वमान्य उच्च श्रेणी के जैन विद्वान के शब्दों में देख लीजिये-"जे कांई व्यवस्था छे ते गृहस्थए सामाजिक प्राणी छतां असामाजिक प्राणी केम बने तेनो मार्ग देखाडवा पूर्ति छे…… …स्पष्ट जणाय छे के जीवननू अंग जाणे अधुरूज रही जावे छे ………तेने शिखावा मा आवे छे कि तूं एकलो आव्यो छे अने एकलो जावानो छे, तारे वली माता शूं अने पिता शूं। व्यापार व्यवसाय मा एवधानू फल तो तारेज भोगवानू छे …… ……परिणामें गृहस्थ जीवन मा उत्कर्ष करवा प्रत्ये अथवा तो आलोक ने सुधरवा प्रत्ये ध्यान जानूंज नथी…………जे समाज ने आधारे, जे समाज ने बच्चे रहीं सन्यास मार्ग नू पालन सुकर छे तेज इमाज विषे तद्दन उपेक्षा सेववामां आवे छे।"

श्री विजयवल्लभसूरि स्मृति ग्रन्थ

ऐसे महान आचार्य के स्मृति ग्रंथ में ऐसे विचार सम्पादकों की दृष्टि से बच जाना कितना खेद जनक है।

यह जैन धर्म का असली रूप नही है किन्तु यह हमारे आज के धर्म के विद्वानों और गुरुओं द्वारा भोली जनता के सामने रखा हुआ रूप है। असली रूप में जैन धर्म संसार को सन्तुलित और स्व-पर कल्याणी जीवन मार्ग बताता है

और भविष्य जन्म के लिए सुखी जीवन की नीव डालता है। यदि यही आज जेसा जैन धर्म, धर्म का असली रूप होता तो जैन धर्म प्राचीन लम्बे काल तक इतना गौरवशाली नही रह सकता था और न आज तक जीवित ही रह सकता था।

इस प्रकार विना सोचे समझे कि अमुक बात किस अपेक्षा से कही गई है, या किस योग्यता, या अधिकार या परिस्थिति की अपेक्षा से कोई धार्मिक उपदेश दिया गया है इसका विचार किये बिना ही बात बात मे पाप बताकर जैन धर्म को एक अव्यवहारिक ही नही किन्तु समाज के लिये एक पतनकारी वस्तु बना दिया है। खेती वाड़ी जिसकी शिक्षा स्वयं भगवान ऋषभ देव ने दीक्षा लेने से पहले दी थी। कल कारखानों, उद्योग धन्धों को जो कर्मादान के अर्थ मे आते है, हर गृहस्थ के लिये पाप और त्याज्य बताकर उसके लिये प्रतिक्रमण में प्रायश्चित की प्रथा बनाकर जैनियों को उन उद्योग धन्धों से दूर रखकर जैन समाज को अन्य समाजों की अपेक्षा पुरुषार्थ हीन गौरवहीन बनाकर समाज में बेकारी बढाई है और समाज का पतन किया है। कर्मादान त्याज्य बताया गया है, आध्यात्मिक अमुक योग्यता प्राप्त अमुक श्रेणी पर चढे हुये सम्यक्त्व प्राप्त व्यक्ति के लिये श्री हेम-चन्द्राचार्य के अनुसार व्रत नियम लेने वाले के लिये प्रथम आवश्यकता है सम्पत्ति न्यायपूर्ण उपार्जित हो (इसी पुस्तक का पृ. ६६)। पर एक व्यक्ति हर प्रकार का अनीतिपूर्ण, काले बाजारी धन्धा करने में नही हिचकता है पर नीति और न्याय पूर्ण उद्योग को पाप पूर्ण और त्याज्य समझता है

तथा अनीति से धनिक बनने में गौरव अनुभव करता है। और उस अनीति द्वारा कमाये हुए धन द्वारा तथा कथित धार्मिक क्रियाओं मे धर्म की आज्ञा के विपरीत होते हुए भी लगाकर और भी अधिक गौरव मानता है,जबकि श्री हरिभद्र-सूरि के उपदेशानुसार अनीति से धनोपार्जन करने वाला चैत्यवंदन तक का अधिकारी नहो है। ऐसी दशा में आज की शिक्षित नई पीढ़ी के छात्र छात्राओं में धर्म की रुचि कैसे हो सकती है और किस प्रकार जैन सिद्धांत उनको प्रभावित कर सकते है। वे कैसे जैन धर्म को एक गौरव पूर्ण दृष्टि से देख सकते हैं।

यह जैन धर्म या जैन सिद्धांतों का दोष नहीं है किन्तु जैन धर्म के महत्वपूर्ण सिद्धांत-योग्यता-पात्रता, परिस्थिति की अपेक्षा रखकर ही उपदेश देना चाहिये-यह इस उत्तम सिद्धांत की उपेक्षा का परिणाम है। आचार्य श्री हरिभद्रसूरि योग-शतक ग्रन्थ में कहते है—"उपदेश पात्रता और योग्यता के अनुसार ही होना चाहिये। इसके विपरीत अपात्र और अयोग्य को उपदेश देने के बहुत कड़वे फल होते है" आज जो हम चारो तरफ जैन धर्म के विपरीत और उसे बदनाम करने वाली बातें देख रहे है, वे सब इस पात्रता सम्बन्धी उपदेश की उपेक्षा के ही कड़वे फल है।

आज भावहीन—मन की शुद्धि से असम्बन्धित व्रत, नियम, तपस्यादि धर्म वन गये है, पर श्री हेमचन्द्राचार्य, 'योगशास्त्र' मे कहते है—"मन की शुद्धि द्वारा इन्द्रियों पर

विजय प्राप्त करना चाहिये। मन की शुद्धि बिना यम नियम द्वारा पाया हुआ काय क्लेश निरर्थक है।"

इस योग्यता और पात्रता की उपेक्षा से न तो धर्मोपदेशकों में यथेष्ट चारित्र बल रहा है और न धर्म का सच्चा स्वरूप जनता के सामने रहा है। इस प्रकार जिस शक्ति पर निरामिषाहार आधारित था वह शक्ति ही नहीं रही और साथ में काल के प्रभाव से पारम्परिक संस्कार भी नष्ट होने लगे तब माँस अण्डे भक्षण का प्रचार बढे तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नही।

यह तो हमने भीतरी कारण बताये है। अब बाहरी कारणों पर भी एक दृष्टि डालें। हम भारतवासियों का स्वराज्य प्राप्ति के पहले अपनी सभ्यता और संस्कृति पर गर्व था। हमारी अहिंसा-त्याग संयम प्रधान संस्कृति ने राजनैतिक क्षेत्र में भी बड़े-बड़े त्यागी पैदा किये थे जिनके कारण ही हमें स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। हमारा स्वतन्त्रता आन्दोलन भी अहिंसा आधारित था। हमारा जीवन आदर्श, 'सादाजीवन, उच्चविचार था।' पाश्चात्य भोग प्रधान सभ्यता और उस पर आधारित जीवन व्यवहार को हम, अहितकर और विनाशकारी समझते थे। एक प्रकार से यहाँ अमीर गरीब में वैसा विरोधाभाव स्वार्थाधता वैमनस्य भाव नही थे जैसे कि भोग प्रधान पाश्चात्य सभ्यता में। अमीर गरीवों को भी अपना भाई समझते थे। त्यागियों को बड़े-बड़े राजा महाराजा तक सर झुकाते थे।

परन्तु स्वराज्य प्राप्ति के पश्चात् सबसे पहले हमने इस काल में अहिंसा संयम-त्याग के महान् प्रतीक महात्मा गांधी की हत्या की। फिर पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के नशे में चूर होने लगे। प्रत्येक बात में, रहन-सहन में, फैशन व्यवहार में, वेश भूषा में, खान-पान में, विचारों और आदर्शों में भी उनकी नकल करने लगे और हमने अपनी विचार स्वतन्त्रता भी गुमादी। उद्योग धन्धे व्यापार आदि बढे और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हमने प्रवेश किया और इस क्षेत्र मे कार्यक्षम वे ही माने जाने लगे जिन्होंने जीवन और खान-पान में पाश्चात्य ढंग को अंगीकार कर लिया। अब सफलता का उपाय, देश में और विदेशों मे, जिनसे मतलब साधना हो उनसे सम्पर्क स्थापना करना है और सम्पर्क साधन का उपाय होटलों में, क्लबों मे सहभोज करना। इसमें स्वयं के और अतिथि की भोजन सामग्री मे आमिष और निरामिष का भेद रखना, सम्पर्क साधन मे बाधक माना जाने लगा। इसलिये जिन्हें उन्नति करना है उन्हें भोज्य वस्तु में यह भेदभाव तथा खान पान में मर्यादाएँ दूर करना स्वाभाविक और अनिवार्य होता जाता है तथा पाश्चात्य ढंग का रहन सहन और अमर्यादित खानपान उन्नत सोसाइटी का प्रतीक बन गया है। तब मांसाहार त्याग की मर्यादा कहाँ से रह सकती है।

एक ओर धर्म और आदर्शो की नींव खोखली हो जाना और दूसरो ओर भोग प्रधान सभ्यता का आक्रमण और आकर्षण, ऐसी दशा मे निरामिषाहार की मर्यादा कैसे टिक सकती है ? पाश्चात्य सभ्यता की गति ही आज मर्यादा

हीनता—(Permissiveness) की ओर हो रही है। मर्यादा हीनता ही समाज का ध्येय वनता जाता है, यहाँ तक की पति-पत्नी के पवित्र सम्वन्धों में भी मर्यादा हीनता प्रवेश कर रही है, तव हम पाश्चात्य देशों का अंधानुकरण करने वाले विचार स्वतत्रता खोये हुये, भारतीय किस प्रकार अपनी संस्कृति और सभ्यता का गौरव समझकर मर्यादाओं का पालन कर सकते है। हम तो वड़े उल्लास से उसी पाश्चात्य मार्ग पर चलकर अपने आपको धन्य मानते हैं। तव अंडे और माँसाहार का प्रचार कैसे रुक सकता है।

हमारे मुनिवरों, समाज के अग्रगणियों, धार्मिक और सामाजिक मण्डलों, सभाओं, समितियों, कान्फ्रेंसों, इत्यादि को उचित है कि इस प्रश्न पर गहराई से विचार करें, आपस में विचार विमर्श करें और कोई ठोस कार्यक्रम वनावे जिसके द्वारा देश का वातावरण ही ऐसा हो जाय जिससे निरामिषाहार की मर्यादा एक आत्महीनता के भाव पैदा करने वाली संकीर्ण, एक पिछड़ी हुई विचारधारा की प्रथा न मानी जाकर एक महत्वपूर्ण गौरवपूर्ण, वुद्धि आधारित संसार से क्रूरता नाशक अन्य कुमनोभावों की निरोधक, करुणा, भ्रातृ भाव की सहायक और भारतीय अहिंसा-त्याग-संयम प्रधान सभ्यता और संस्कारों का प्रतीक और अंग तथा स्वास्थ्य-दायी वस्तु मानी जाने लगे।

ऐसा वातावरण उत्पन्न किया जाय कि निरामिषाहारी नवयुवक, संसार के अन्य लोगों के साथ व्यवहार में आत्म-हीनता नहीं किन्तु आत्मगौरव अनुभव करें और विदेशी

अतिथि पर भी ऐसा प्रभाव डालें कि वे इस आदर्श पर दृढ़ता रखने का सम्मान करें। या तो देश मे इस प्रकार का वातावरण उत्पन्न किया जाय अन्यथा सब कुछ भवितव्यता पर छोड़ कर अर्थहीन आंसू बहाना छोड़ दे।

जैन धर्म के मूल सिद्धांत अहिंसा का निरामिषाहारी मर्यादा एक सरल व्यवहारिक प्रतीक है। इसका गौरव, जैन धर्म के असली स्वरूप को और उसके महत्व को इस बुद्धिवादी काल में युक्ति पूर्वक और लोगों के समझ में आ जाय ऐसी भाषा में समझाने से प्राप्त हो सकता है, न कि आडम्बर पूर्ण महोत्सवों से, धर्म गुरुओं के समारोहों या उनको पदवियां प्रदान से और न केवल कुछ लोगों को मांस त्याग के नियम दिलाने से या कुछ दिन कसाई खाने बन्द कराने से। और न वह गौरव यथाकथित अणुव्रत आन्दोलन मे ही आ सकता है, चाहे कितने ही राजनैतिकों और राज्याधिकारियों का आश्रय लिया जाये। निरामिषाहार के पक्ष में वातावरण उत्पन्न करने का एक उपाय तो यह हो सकता है कि सब सम्प्रदायों के मुनिगण, साध्वियाँ इत्यादि सारे देश में फैलकर एक एक समूह एक एक क्षेत्र की जिम्मेदारी लेकर मुख्यत: केवल निरामिषाहार का वातावरण बनाना ही अपना कर्तव्य समझ ले।

हमको जैन धर्म की आत्मा की उपेक्षा के घातक परिणामो से बचना है तो हमको समझना होगा कि वह आत्मा क्या है। क्या वह भावहीन क्रियाओ मे और कीर्ति या पर-

लोक स्वर्गादिनी इच्छा से किये हुये तपस्याओं तथा आडम्बर पूर्ण महोत्सवों में और पारस्परिक स्पर्धा और ईर्ष्या जागृत करने वाली परिग्रह भाव को समर्थ करने पर घी की बोलियों में या भगवान् के मुकुट और आंगी की शोभा में ही है जिनको हमने जैन धर्म की आत्मा समझ रखा है ? वास्तव में प्रचलित रूप में होने वाली यह सब बाते पतनकारी है, और जैनधर्म कल्याणकारी सिद्धान्तों को ओझलकर देती है और उनका ज्ञान जनता तक नही पहुचने देते । आज हम देखते है हिन्दी भाषा भाषी जैनों में जितना जैन सिद्धान्त का अज्ञान है वह अन्य आम्नायों में—दिगम्बर, स्थानकवासो, तेरहपन्थी इत्यादि में नही है । उनमें विपुल साहित्य प्रकाशित होता रहता है। और उसका उपयोग भी होता रहता है पर हम में न प्रकाशन है, न पठन-पाठन । हम भावहीन बातों में ही अपनी कर्तव्य पूर्ति समझते है । ये सब क्रियाएं तब ही सार्थक है जब यह हमें भगवान के शुद्ध आत्मस्वरूप का भान करावे और उसे प्राप्त करने की प्रेरणा दे अन्यथा वे हमें अन्धकार में ढकेलने वाली, भगवान् के बनाये आत्मकल्याणकारी सिद्धान्तों को भुलाने वाली और कषाय रोग पैदा करने वाली है । हमारा कर्तव्य है कि हम भगवान् के उपदेशों को आम जनता तक इस रूप में पहुंचायें जिससे प्रत्येक व्यक्ति समझ सके कि उनके अनुसार आचरण से हमे और संसार को इसी जन्म मे सुख शान्ति और सफलता मिल सकती है । धर्म केवल परोक्ष का सौदा नही है । किन्तु इसी जन्म में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कल्याणकारी है । वह हमारी आत्मा को शुद्ध करता है । हम

को बुरे व्यवहार, बुरे आचरण और बुरे स्वभाव से बचाता-मुक्त कराता है। संक्षेप में कहें तो जैन धर्म की, आत्मा का समावेश तीन शब्दों में होता है—(१) अहिंसा, अर्थात् किसी भी प्राणी का मन से, वचन से या काया से अहित न हो। (२) संयम, अर्थात् मन और इन्द्रियों पर नियन्त्रण। (३) तप अर्थात् संयम की शिक्षा। कोई भी क्रिया जिससे यह तीन प्राप्ति में सहायता न मिले धर्म नही है।

——

५—जैनधर्म के जगत् कल्याणकारी रूप की उपेक्षा दूर हटाकर स्व-पर कल्याण करिये

भगवान् श्री महावीर के निर्माण के २५०० वें वर्ष के उपलक्ष मे कई कार्यक्रमों के समाचार पढ़ने में आते है। परन्तु वास्तव मे वे ही कार्यक्रम सार्थक कहे जा सकते हैं जो जैनियो को आज की स्वप्न अवस्था से जागृत कर उन्हे जैन धर्म की वास्तविक कल्याणकारी शक्ति और उसके गौरवपूर्ण इतिहास का परिचय कराकर उनमें जागृत-श्रद्धा उत्पन्न करे और जैनधर्म पुनः प्राणवान और जीवित होकर संसार के लिये कल्याणकारी और प्रभावशाली पथ प्रदर्शक वने।

जैनधर्म के सिद्धान्त और नियम वहुत ही सुव्यवस्थित और सुसंगठित तथा युक्ति, वुद्धि और अनुभव पर आधारित हैं, वे अटल प्राकृतिक नियमों के द्योतक है। उनमें अन्ध-विश्वास को कोई स्थान नहीं। जवकि संसार के सव धर्म अदृश्य ईश्वर को प्राणियो का भाग्यविधाता मानते है, जैन धर्म में ऐसी कल्पना-आधारित मान्यता के लिए कोई स्थान नही है। इसका यही कारण है कि प्राचीन काल में जिस समाज मे इस धर्म का उद्भव हुआ था, वह समाज हर प्रकार से वहुत विकसित समाज था।

समय के साथ मनुष्य-समाज की बुद्धि का अधिकाधिक विकास होता है और उससे भौतिक उन्नति होती है। भौतिक उन्नति धन और सत्ता की लालसा उत्पन्न करती है और यह लालसा संसार में प्रतिद्वंदता, झूठ, कपट, अनीति, अन्याय हिंसा, लड़ाई-झगड़े, शोषण-वृत्ति और महायुद्धों तक को प्रोत्साहन देती है। इनको रोकना कानून और न्याय व्यवस्था की शक्ति के बाहर है, यह हम आज संसार में चारों तरफ अनुभव कर रहे हैं।

आज अमेरिका भौतिक दृष्टि से धन में, समृद्धि में, वैज्ञानिक ज्ञान में, सत्ता मे, शक्ति मे, संसार में सबसे आगे है। उसकी आज की दशा के विषय मे यहां रिटायर्ड न्यायधीश श्री टेकचन्द के विचार उद्धृत करते है—प्रति ३३ मिनट में एक अमेरिकन की हत्या होती है। प्रति १५ मिनट में एक स्त्री पर बलात्कार होता है। प्रति २ मिनट में कोई लूटा जाता है। प्रति ३५ सैकेंड में एक मोटर चोरी की जाती है, और प्रति २१ सैकेंड में एक बड़ी चोरी होती है। प्रति .३३ मिनट में प्रति २९ अमेरिकनों में एक अमेरिकन इसी प्रकार के अपराधों का शिकार होता रहता है। अमेरिका की जनसंख्या लगभग २० करोड़ है। लगभग इतनी ही संख्या जापान, पश्चिम जर्मनी और ब्रिटेन की मिलाकर है। पर इन तीनों देशो की अपेक्षा अमेरिका मे ५० गुना अधिक संख्या बन्दूक की गोली की शिकार होती है। दस वर्षों में अमेरिका की जनसंख्या में १३ प्रतिशत की वृद्धि हुई है। पर वहां घोर अपराधों की संख्या इन दश वर्षों में ढाई गुनी बढ़ गई है।

यह है भौतिक उन्नति का परिणाम। न्याय और कानून व्यवस्था की असफलता का कैसा भयंकर यह उदाहरण है। इस घोर स्थिति से बचने का उपाय केवल आत्म नियन्त्रण के सिद्धान्त ही हो सकते है जिनका पाश्चात्य सभ्यता में कोई स्थान नही, जब कि वहां आत्म नियन्त्रण भारतीय संस्कृति का मूल आधार सदा से रहा है। और यह आत्म नियन्त्रण ही जैन धर्म का सार है। आत्म नियन्त्रण पोषक जैन सिद्धांतों का प्रादुर्भाव भौतिक विकास पर अग्रसर होते हुए भारत को उस मार्ग से बचाने के लिए हुआ जिस मार्ग पर चलकर आज तक कई देश और संस्कृतियाँ नष्ट हो चुकी है और आज भी नाश की ओर बढ़ रही हैं।

आर्य जब भारत में आये थे सरल स्वभावी थे, उनका अधिक भौतिक विकास नही हुआ था। प्रकृति को ही देवी-देवताओं, इन्द्र आदि के रूप में पूजते थे। प्रकृति की अदृश्य शक्ति को ही ईश्वर, भाग्यविधाता मानते थे और इन सब को प्रसन्न करने के लिए ही यज्ञ आदि करते थे, पशुओं को बलि भी करते थे। उनमें ऐसी अविकसित स्थिति में भोग, धन और सत्ता की लालसा उत्पन्न होने के कोई कारण नही थे। तब आत्म नियन्त्रण रूपी धर्म की भी आवश्यकता उत्पन्न नही हुई थी।

जब आर्य भारत मे आये, उन्होंने यहा दूसरी ही स्थिति देखी। भारत भौतिक दृष्टि से बहुत ही उन्नत था और उसको पतन के मार्ग पर जाने से रोकने वाला आत्म नियन्त्रण का जैनधर्म वहां प्रचलित था। उसके प्रचारक त्यागी मुनिगण थे और

उस धर्म को प्रकट करने वाले ऋषभ आदि तीर्थंकरों को वे पूजते थे। इस स्थिति से आर्य लोग भी वहुत प्रभावित हुए और यही कारण है कि उन्होंने अपने वेदादि धर्मग्रन्थों में जैन तीर्थंकरों का बड़े सम्मान के साथ उल्लेख किया है। धीरे-धीरे आर्य और भारतवासी आपस में घुलमिल गये। सब समान संस्कारी हो गये। आत्म नियन्त्रण के संस्कार जैन सिद्धान्त अहिंसा सिद्धान्त से प्रभावित हुए और इस प्रकार 'अहिंसा परमो धर्म' इस सम्मिलित समाज का भी मन्त्र बन गया। वेदों से भारत मे कई धर्म और दर्शन निकले और उन सबने किसी न किसी रूप में जैन सिद्धान्तों को अपनी रुचि और परिस्थिति के अनुसार स्वीकार कर लिया और जैनधर्म ने अपनी अनेकान्त दृष्टि के आधार पर उन सबको मान लिया। जैन धर्म मे अहिंसा के साधन रूप में संयम और तप अर्थात् त्याग को वड़ा महत्व दिया गया है और इन्हें किसी न किसी आदर्श रूप में स्वीकार कर लिया गया है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति अहिसा, संयम एवं तप पर आधारित त्याग प्रधान संस्कृति बनी और इसी ने आज तक भारत को जीवित रखा है। इसी त्याग प्रधान सस्कृति ने भारत की आज की स्थिति में पुनः उठाकर एक महत्वपूर्ण, शक्तिशाली परन्तु शान्तिप्रिय देश बनाया। इस विषय में जैन धर्म और जैनियों का प्रमुख उत्तरदायित्व है, और भगवान् महावीर के २५००वे निर्वाण दिवस पर इस ओर ध्यान देना आवश्यक है। यदि ऐसा नही किया गया तो पाश्चात्य भोग-प्रधान संस्कृति हमारा सर्वनाश कर देगी।

आज हम विचार करें कि जैन सिद्धान्त किस प्रकार दुनिया को विनाशकारी मार्ग से रोकता है। जैन धर्म के अहिंसा शब्द में निम्नोक्त पांच बातों का समावेश होता है:— (१) अहिंसा अर्थात् किसी का अहित हो ऐसा कार्य न करना, (२) सत्य और कटुतारहित वचन, (३) अचौर्य अर्थात् अनधिकार प्राप्ति से बचना, (४) ब्रह्मचर्य अर्थात् भोग का त्याग और (५) अपरिग्रह अर्थात् धन, सत्ता आदि की मूर्छा का त्याग। अहिंसा पारस्परिक विरोध, वैमनस्य आदि उत्पन्न होने से रोकती है और इसके प्रथम दो सहायक गुण—मैत्री और करुणा, सद्भाव और सहयोग और परोपकारी वृत्ति उत्पन्न करते हैं। तीसरा प्रमोद गुण जीवन में गुणोपार्जन की प्रेरणा देता है और चौथा माध्यस्थ्यभाव अर्थात् दुष्टों पर भी क्रोध नही करना, शान्ति में सहायक और परनिन्दा दुर्गुण से रक्षा करता है। सत्य और अस्तेय असामाजिक प्रवृत्ति का, जिनका कि आज बहुत बोलबाला है, विरोध करता है और समाज को नैतिक बल देता है। ब्रह्मचर्य भोग-लालसा को नियंत्रित करता है। समाज की दुश्चारिता से रक्षाकर जनता में आत्मबल, आत्म-नियत्रण की शक्ति, निर्मल बुद्धि और सद्मार्ग में प्रेरणा देता है। अपरिग्रह मनुष्य को शोपण-प्रवृत्ति से रोकता है। इसलिए ये पांच बाते व्रत के रूप में स्वीकार की गई है। इनका सशक्त प्रभाव तब ही प्रगट हो सकता है जब इनका पूर्णरूपेण पालन हो। पर ऐसा कठोर जीवन-यापन हर व्यक्ति के लिए असभव है। इसलिए इनका पूर्ण रूप से पालन वे ही कर सकते है जिनका आत्मबल

यथेष्ट शक्ति मान हो। ऐसे व्यक्ति यद्यपि बहुत कम ही होते हैं पर उनका जीवन सबके लिए प्रकाश का काम करता है और सच्चे मार्ग पर चलने की जबरदस्त प्रेरणा देता है, और जनता के सामने बहुत ऊँचा आदर्श रखता है। जिनमें इतनी उच्च त्याग की शक्ति नही है उनके लिए इन व्रतों को उच्च आदर्श के रूप में सामने रखते हुए यथाशक्ति आंशिक रूप में उनके पालन की व्यवस्था करता है और इनके सहायक सात व्रतों का विधान करता है। इस प्रकार अहिंसा को पूर्ण रूप से पालन करने का उद्देश्य सामने रखते हुए यथाशक्ति अंश रूप से पालन करने के लिए १२ अणुव्रतों की व्यवस्था है। महाव्रतधारी को घरवार, सम्पत्ति परिवार का पूर्णत: त्याग करना आवश्यक है परन्तु अणुव्रतधारी गृहस्थ जीवन के पूरे उत्तरदायित्व को बिना बाधा निभा सकता है। इन व्रतों का पालन ही आत्म-संयम है और इस संयम की शिक्षा का उपाय तप अर्थात् अपनी इच्छाओं के आधीन न होकर उनको अपने आधीन रखना है। यह अहिंसा, संयम, तप भारत के प्रत्येक धर्म के अंग है, और सब अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार उनका पालन करते है। इसलिए यहां की संस्कृति त्याग-प्रधान संस्कृति है।

इस संस्कृति मे न पूंजीवाद को स्थान है और न साम्राज्यवाद या उपनिवेशवाद को। इन वादों के प्रतिक्रिया रूप हिंसा, क्रान्तियों और साम्यवाद या समाजवाद के हिंसक संघर्षो की भी आवश्यकता नही रहती है। इन सिद्धान्तों से सच्चे रूप से प्रभावित समाज में मालिक और मजदूर के भेद की भी गुंजाइश नहीं होती है। सबका ध्येय मैत्री और सह-

योग द्वारा सबकी आवश्यकता पूर्ण करते हुए शान्तिमय जीवन-यापन करना है। जितने आगे हम इन आदर्शों पर बढ़ेगे उतने ही हम, हमारा देश शक्तिशाली और प्रभावशाली बनकर संसार को कल्याण का मार्ग बतायेगा। आज जैनधर्म न तो असली रूप में समझा जाता है और न पालन किया जाता है, इसलिये जैन समाज में वह प्राचीन गौरव और प्रभाव नही रहा और वह एक अल्पसंख्यक प्रभावहीन जाति बनी हुई हैं। आज हम जैन सिद्धान्तों का असली रूप भूल गये है और उसका क्षेत्र इतना संकीर्ण हो गया है कि वह आज रूढ़ि मात्र के रूप में रह गया है और जैन कुटुम्बों में उत्पन्न और जैन संस्कारों में पोषण पायी हुई नई पीढ़ी के शिक्षित छात्र-छात्राएं इनको हास्यप्रद रूढ़ि से अधिक नहीं मानने लगे है।

इस स्थिति का कारण हमारा पाश्चात्य भोग-प्रधान संस्कृति से प्रभावित होकर भारत के और जैनधर्म के प्राचीन गौरवपूर्ण इतिहास को भूल जाना और जैनधर्म को जनता के सामने उसके असली रूप में और जनता उसके कल्याण कारी रूप को समझ सके ऐसी भाषा में नही रखना ही है।

भगवान् महावीर के २५०० वे निर्वाण दिवस पर हमें इन बातों पर ध्यान देना चाहिये। जैन सिद्धान्तों को इस प्रकार से और ऐसी भाषा में जनता के सामने रखना चाहिए कि वे उनकी इसी जीवन में स्वय के लिए समाज, देश और ससार के लिए उपयोगिता समझ सके। जैनधर्म के प्राचीन

इतिहास की खोजकर उसके महत्व को तथा किस प्रकार विभिन्न काल में उसने भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया है इस विषय में साधारण जनता बिना साम्प्रदायिकता के भाव के समझ सके ऐसा साहित्य प्रकाशित करना चाहिये। जैन इतिहास तथा साहित्य सम्बन्धी भारतीय साहित्य तथा शिक्षा संस्थाओं की पाठ्यपुस्तकों में उपेक्षा नजर आती है उसको दूर करने की प्रबल चेष्टा करनी चाहिये। जैन धर्म की अनेकान्त दृष्टि द्वारा भारत मे सम्प्रदायवाद को मिटाने की चेष्टा करनी चाहिये। इन सब बातो के लिए मुख्य बात यह है कि हमारे धर्मगुरु अपने कठोर त्याग और तपस्या को सार्थक करने के लिए अपनी पद्धतियो और अपने स्वागत समारोहों और अन्ध-भक्ति के मोह को त्यागकर उच्च चारित्र बल प्राप्त करे। वे अपना आदर्श उपाध्याय श्री यशोविजयजी के शब्दों में "मान-अपमान समगणे कनक पाषाण रे" इसको बनावें तब ही वे जनता को प्रभावित कर धर्म की वास्तविक सेवा कर सकेंगे और भगवान् के "सर्व जीव कर शासन ......" को सार्थक कर सकेगे।

सारा जगत् भोग प्रमुख सभ्यता के कटु परिणामों को समझने लगा है और शान्ति का इच्छुक है। यह बुद्धिवादी काल है। संसार को जैन सिद्धान्तों का असली कल्याणकारी रूप बतलाने का यह बहुत अनुकूल समय है। यह मान्यता भी है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के २५०० वर्ष पश्चात् जैन-धर्म पुनः प्रभावशाली होकर जगकल्याण करेगा। हमे

इस अवसर पर इस मान्यता को सत्यता प्रमाणित करने का अथर्क परिश्रम करना चाहिये। जैन-धर्म अनेकान्तवादी है। प्रत्येक बात हरएक दृष्टि से देखने को कहता है, इसमें सम्प्रदाथवाद को कोई स्थान नही है इसलिए सारे संसार को यह रूप समझाकर संसार के हित मे अपनी सेवायें अर्पण करनी चाहिये।

संक्षिप्त जीवन परिचय

श्री हरिभद्रसूरि

श्री हरिभद्रसूरि का समय सम्वत ७४७ से ८२७ तक का माना गया है। वे चित्रकूट के राजा के पुरोहित थे। उन्होंने विद्वता के अभिमान में प्रतिज्ञा की थी कि जिसका कहा हुआ कोई वचन मैं न समझ सकूं तो मैं उसका शिष्य बन जाऊंगा। एक दिन मध्य रात्रि में रास्ते चलते एक साध्वी को एक गाथा बोलते सुना, पर वे उसका अर्थ न समझ सके। अपनी प्रतिज्ञानुसार वे उस साध्वी के पास शिष्य बनने को गये। साध्वी ने उन्हें अपने गुरु जिनभद्रसूरि के पास जाने को कहा। जब श्री हरिभद्रसूरि ने गुरु के पास जाकर उस सूत्र का अर्थ पूछा तो गुरु ने कहा कि जो दीक्षा लेकर विधि पूर्वक शास्त्राध्यन करता है उसको ही अर्थ बताया जाता है। इस पर उन्होंने दीक्षा ले ली और उपरोक्त साध्वी याकिनी महतरा को धर्ममाता की तरह मानने लगे। और अपनी अमर कृत्यों में उन्होंने उनकी पुण्य स्मृति कायम रखी।

उनके दो भानजे हंस और परमहंस थे उन्होंने हरिभद्र के पास, दीक्षा ली। ये प्रमाणशास्त्र में प्रवीण शिष्य बौद्ध प्रमाण शास्त्रों के अध्ययन के लिए बौद्ध शिक्षकों के

पास गये । कुछ समय पश्चात् बौद्धों के सामने यह भेद खुल गया और उन्होंने हंस को मार डाला और परमहंस बच कर गुरु हरिभद्र के पास पहुँचा और उन्हें सब हाल कहा। हाल कहते कहते परमहंस के प्राण भी निकल गये । ऐसे दो उत्तम शिष्यो के विरह के शोक से हरिभद्रसूरि मे क्षणिक आवेश से, क्रोधाग्नि प्रज्जवलित हुई परन्तु उनके गुरु की पढ़ाई हुई तीन गाथाओ की स्मृति से क्रोध शांत हो गया और वे पश्चाताप करने लगे । उन्हे ससार से तीव्र वेराग्य के कारण भवविरह हुआ और आश्चर्यकारी पुरुषार्थ द्वारा अनेक शास्त्रों की रचना की । उनके अब भो लगभग ७५ ग्रंथ उपलब्ध है ।

जैन आगमों की टीका संस्कृत में करने वाले सबसे पहले विद्वान श्री हरिभद्रसूरि ही थे । जिससे किसी मत का खंडन न हो; केवल तटस्थ भाव से दर्शनों का प्रामाणिक निरूपण हो, ऐसे षड दर्शन पर ग्रंथ लिखने वाले सबसे पहले लेखक वे ही है । इसी प्रकार चिन्तन, आचार और योग के विषयों में तुलनात्मक तथा समन्वय दृष्टि से निरूपण करने का प्रथम स्थान भारतीय वाङ्गमय में उन्ही को मिला है ।

आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि

आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि का जन्म विक्रम संवत ११४५ ईस्वी सन् १०८९ में कार्तिक पूर्णिमा को धंधुका नगर में हुआ था । पिता का नाम चाच्चिग और माता का नाम चाहिणी था । पिता शेव धर्मी थे और माता जैन धर्मी थी । उनका जन्म नाम चगदेव था ।

आचार्य देवचन्द सूरि बालक चंगदेव के शारीरिक लक्षणों और व्यक्तित्व से प्रभावित हुए और बोले कि माता-पिता अनुमति दे तो वे उन्हें शिष्य बनाने को तैयार है। यह तब हुआ जब बालक ने उनसे प्रश्न किया कि 'संसार समुद्र पार करने के लिये सुचारित्र रूपी नौका देवो'। पिता की आज्ञा मिलने पर वि. सं. ११५४ (ई. सं. १०९८) में गुरु ने उन्हें दीक्षा दी और उनका सोमचन्द्र नाम रखा।

दीक्षा लेते ही वे विद्याध्ययन और कठिन योग साधना में लग गये और थोड़े ही समय में वे 'तर्क, लक्षण और साहित्य' इन तीन विद्याओं में बहुत उन्नति कर गये और उन्होंने सब धर्म-शास्त्रों का अध्ययन कर लिया। उनकी इस असाधारण प्रतिभा, बुद्धिप्रभा और आचरण की उच्चता देखकर उनके गुरु प्रसन्न हुये और विक्रम संवत ११६६ (ई. सं. १११०) मे २१ वर्ष की आयु में ही उन्हे आचार्य पद दे दिया और उनका नाम हेमचन्द्र रखा।

उस समय गुजरात मे चौलुक्य वंश के समर्थ राजा सिद्धराज और पीछे अहिंसक राजा कुमारपाल का राज्य था। गुजरात विद्वानों का केन्द्र स्थान था तथा वाणिज्य, साहित्य इत्यादि मे उत्तरोत्तर उन्नति कर रहा था। ऐसे काल में श्री हेमचन्द्राचार्य ने अपनी असाधारण शक्ति से साहित्य के क्षेत्र मे अग्र स्थान प्राप्त किया। उनकी इस शक्ति से राजा सिद्धराज आकर्षित हुआ और उसने श्री हेमचन्द्र से एक सरल सम्पूर्ण व्याकरण तैयार करने को प्रार्थना की।

श्री हेमचन्द्र आचार्य ने इस पर एक महत्वपूर्ण व्याकरण तैयार की और उसका नाम सिद्ध हेम व्याकरण रखा गया। यह संस्कृत और उस समय की प्राकृत, दोनों भाषाओं की व्याकरण है। तदुपरान्त श्री हेमचन्द्राचार्य ने अभिधान चिन्तामणि, देशी नाममाला, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र तथा अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथ रचे। सिद्धराज के पीछे राजा कुमारपाल राज्य सिंहासन पर आये और उनके लिये उन्होंने योग शास्त्र की रचना की जो जीवन मार्ग दर्शानेवाला एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

श्री हेमचन्द्र के प्रभाव से शैव मान्यता वाले राजा सिद्ध-राज ने सिद्धपुर में चार जिन प्रतिमाओं के सिद्धविहार का निर्माण किया। और उनके प्रभाव से राजा कुमारपाल तो जैन धर्मावलम्बी ही हो गया और श्री हेमचन्द्र ने उसे 'पर-मार्हत' कह कर सम्वोधित किया। उसने शिकार प्रथा उठा दी, पशु पक्षियों के साथ कष्टदायक खेल बन्द किये और आज्ञा दी कि 'मेरे राज्य मे जो कोई जीव हिंसा करेगा उसे चोर व्यभिचारी से भी अधिक दण्ड दिया जायगा' इसी नीति के परिणाम स्वरूप गुजरात जगत् में सब से अधिक अहिंसा प्रधान देश माना जाता है।

श्री सिद्धर्षि गणि

श्री सिद्धर्षि गणि श्रीमाल नगर के राजा के प्रधान के पुत्र थे। वे युवावस्था मे जुए के व्यसन मे फस गये थे और इस कारण वहुत देर से रात मे घर आया करते थे। इनकी

पत्नी इसी दुःख से अस्वस्थ रहने लगी। जब श्री सिद्धर्षि की माता को इसका पता चला तो एक रात स्वयं पुत्र वधु के यहाँ चली गई। रात मे जब पुत्र ने दरवाजा खटखटाया तो माता ने कहा मेरा पुत्र इस प्रकार रात को नही आता है तू और कोई होगा। मैं द्वार नही खोलू गी। जब पुत्र ने पूछा कि तब मैं कहाँ जाऊं तो माता ने डाट कर उत्तर दिया, जहाँ द्वार खुला मिले वहाँ चला जा। रात को द्वार तो साधुओं के ठहरने के उपाश्रयो के ही खुले रहते है क्योंकि वहां चोरी करने की कोई वस्तु नही रहती है। सिद्धर्षि वहाँ गया और वहाँ देखता है कि कोई साधु ध्यान, कोई पाठ और कोई अन्य धार्मिक क्रिया कर रहे है। वह सामने गुरु महाराज के पास पहुँचा और उन्होने उससे कई प्रश्न किये। गुरु महाराज उसकी ज्ञानोपार्जन शक्ति और दृढ मनोबल को समझ गये। सिद्धर्षि उनके पास रहने की आज्ञा मागने लगा। तब उन्होंने कहा कि जो हमारे जैसा बनता है वही हमारे पास रह सकता है। तथा यह सरल मार्ग नही है किन्तु अति कठिन मार्ग है। इस पर भी सिद्धर्षि ने दीक्षा लेने की ही इच्छा जाहिर की। सवेरे माता-पिता उसे ढूंढते-ढूंढते वहां आये और उसे समझाने लगे पर वे अपने निश्चय पर अटल रहे। अन्त में माता-पिता ने दीक्षा लेने की आज्ञा दे दी।

श्री सिद्धर्षि ने दीक्षा लेने पर बहुत तप किया और सिद्धान्त का अभ्यास किया। उन्हे तर्क, न्याय इत्यादि पढ़ने की बहुत इच्छा थी और बौद्ध गुरुओ के पास रहकर अभ्यास

करने की गुरु से आज्ञा मांगी । उनके आग्रह पर गुरु ने आज्ञा दे दी पर कहा कि मैं यही इच्छा रखता हूँ कि तेरी सद्बुद्धि रहे और तू ज्ञानोपार्जन कर जल्दी वापस लौटे । पर यदि किसी कारण से तेरा मन भ्रमित हो जाय तो मेरा दिया हुआ रजोहरण तू मुझे पुनः लौटा देना । श्री सिद्धर्षि ने कहा आप ऐसी शंका क्यों करते है फिर भी आपके संतोष के लिये मै यह वचन देता हूँ ।

श्री सिद्धर्षि, बौद्धों के यहाँ अभ्यास करने लगे । बडे-बडे शास्त्रों का उन्होने खेल मात्र में अभ्यास कर लिया । उनके गुणो से प्रभावित होकर बौद्ध गुरु उन्हें अपने ही मत में रखने के लिये उन्हें ऊँचे पद पर बिठाने का लोभ देने लगे । वे उनकी बातों में आ गये । पर तुरन्त ही उन्हें अपने जैन गुरु को रजोहरण लौटाने का दिया वचन याद आ गया और वे तुरन्त उनके पास गये । गुरु उनकी वृत्ति समझ गये और श्री हरिभद्रसूरि कृत ललित विस्तरा ग्रंथ पढ़ने के लिये उनके हाथों में देकर स्वयं देव दर्शन के लिये चले गये । जब उनको लौटने में देर हुई तो सिद्धर्षि उस ग्रंथ को पढ़ते रहे । पढ़ते पढ़ते उनमें पुनः पुराने सस्कार जागृत हुये । उन्होंने अपनी चपलता पर पश्चाताप किया और पुनः गुरु से क्षमा मांग कर वे जैन मार्ग पर आ गये । उन्होंने एक महान् रूपक ग्रंथ उपमिति भव प्रपंचा कथा लिखी । यह सरल संस्कृत भाषा में है, जिसका गुजराती अनुवाद स्व० श्री मोतीचन्द गि० कापड़िया ने किया जिसके तीन भाग है और पृष्ठ संख्या लगभग २००० है । उसके उपदेशी अशों का संक्षिप्त संकलन

'धर्म और संसार का स्वरूप नाम' से लेखक ने किया है ओर श्री जिनदत्तसूरि मडल, अजमेर द्वारा प्रकाशित हुआ है। श्री सिद्धर्षि ने उस ग्रंथ की समाप्ति जेष्ठ शुक्ला ५ सम्वत ९६१ तदनुसार ताः १ मई, सन् १९०६ को की।

इस ग्रंथ द्वारा श्री सिद्धर्षिगणि ने संसार का पूरा प्रपंच-पूरा नाटक बहुत ही आकर्षक रूपक के ढंग से बताया है। संसार में हिंसादि कुकृत्य, क्रोधादि कषायों-मनोविकारों और इन्द्रियों की लोलुपता से इसी जीवन मे कुपरिणाम बताकर इनसे मनुष्य किस प्रकार ऊपर उठकर निजका कल्याण कर सकता है वह सुन्दर रूपको द्वारा और रूखे शब्दो में नही किन्तु बहुत ही आकर्षक भाषा में बताया है। ईसाई धर्म की Pilgrims Progress प्रसिद्ध पुस्तक है पर वह न तो आकार में और न भाषा में और महत्त्व में इसके निकट ही आ सकती है।

श्रीमुनि सुन्दरसूरि

अध्यात्म कल्पद्रुम के रचियता श्री मुनि सुन्दरसूरि का जन्म विक्रम सम्वत १४३६ (ई० सन् १३८०) में हुआ। उनको वाचक (उपाध्याय) पदवी सम्वत १४६६ मे और सूरि पद सम्वत १४७० मे दिया गया। वे महा प्रतापी विद्वान थे। वे सम्वत १५०३ मे स्वर्गवासी हुये। उनमें असाधारण विद्वता थी, यादशक्ति बहुत तेजस्वी थी और शास्त्र ज्ञान अद्‌भुत था। वे सहस्रावधानी थे। दक्षिण देश के अन्य समाज के कवियों ने उन्हे 'कलि-सरस्वती' का विरुद दिया था। इनकी

कवित्व शक्ति अद्भुत थी। वे उस समय अद्भुत चमत्कारी भी गिने जाते थे। उन्होंने जो भी कुछ लिखा है, जिस विषय पर भी लिखा है वह विना किसी भय के हिम्मत और सत्यता से लिखा है। उनका आत्मबल, इस पुस्तक के 'यतिशिक्षा' नामक अध्याय से प्रकट होता है। इन्होंने अनेक ग्रथ लिखे। उनकी स्मरण शक्ति, कल्पना शक्ति और तर्कशक्ति अद्भुत थी।

इनका रचित ग्रथ अध्यात्म कल्पद्रुम वड़े महत्व का ग्रथ है। अध्यात्म अर्थात् आत्मा का वास्तविक स्वरूप समझना और उस स्वरूप अर्थात् मोक्ष को कैसे प्राप्त करना इसका विषय है। यह स्थिति समता के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है यह इस ग्रंथ का प्रथम मन्तव्य है। यह समता कैसे प्राप्त हो, यह सोलह अधिकारो में सरल ढंग से समझाया गया है। यद्यपि इस विषय को अच्छी तरह समझने के लिये आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करना आवश्यक है तथापि जो सिद्धांत वर्णन किये गये है वे आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नही करने वाला भी एक सीमा तक अपनी बुद्धि और अनुभव द्वारा समझ सकता है और उनके अनुसार अपना जीवन ढाल कर अपनी आत्मा को और अपनी बुद्धि को निर्मल वनाकर अपना जीवन सुखी वना सकता है और मृत्यु के पश्चात् के जोवन पर विश्वास नही रखते हुये भी अपनी आत्मा की मलीनता कम होनें से उस जन्म में भी सुख प्राप्त कर सकता है। इसी दृष्टि से इस ग्रंथ से इस पुस्तक मे संकलन किया गया है।

कर्म विज्ञान

पं० सुखलालजी संघवी

के

"जैन धर्म का प्राण"

पर आधारित
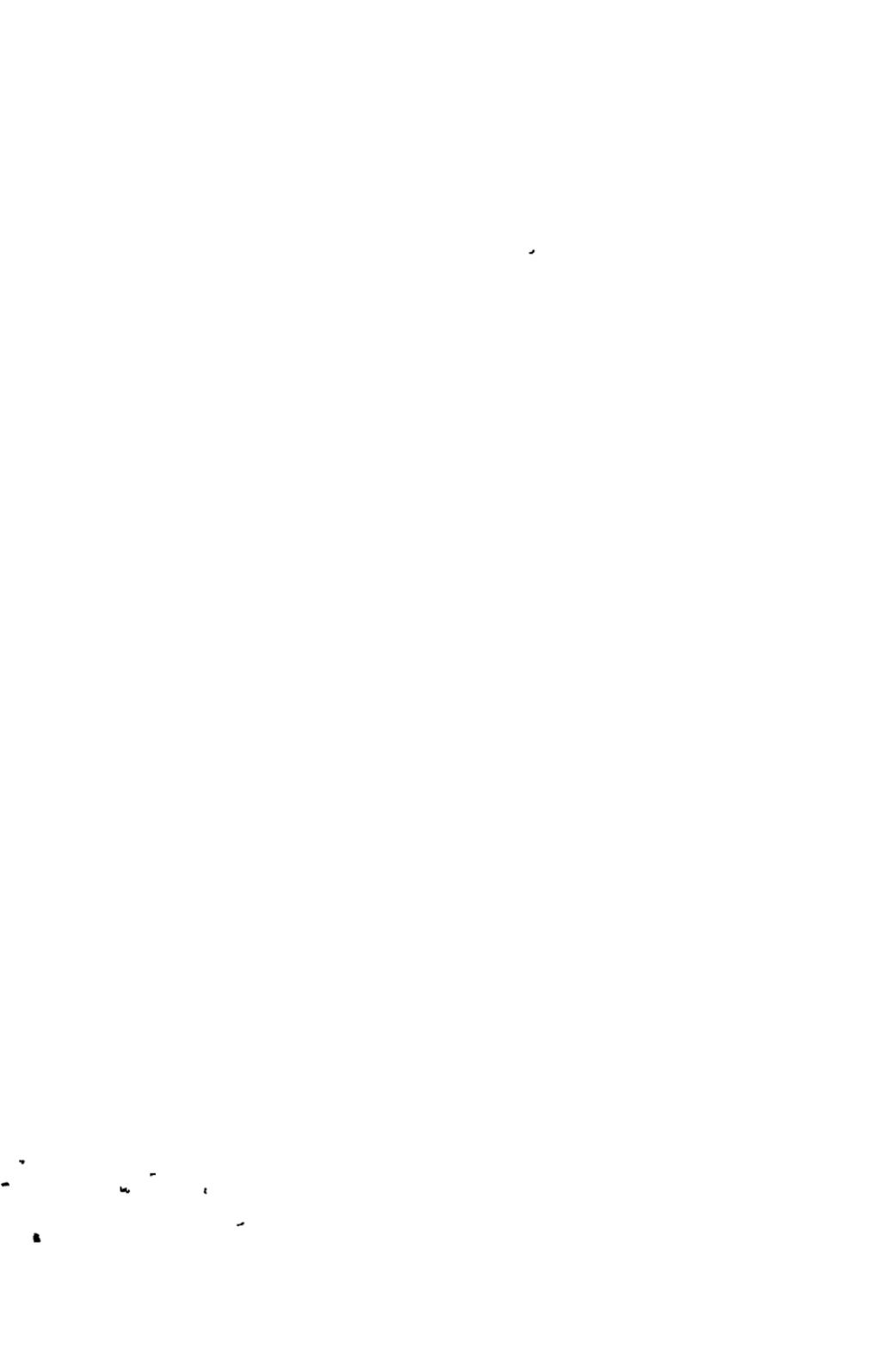
कर्म विज्ञान

कर्म तत्त्व

कर्मवादियो का ऐसा सिद्धात है कि जोवन केवल वर्तमान जन्म से ही पूरा नहीं होता, वह तो पहले भो था और आगे भी चलता रहेगा। कोई भी अच्छा या बुरा, स्थूल या सूक्ष्म, शारीरिक या मानसिक परिणाम जीवन मे ऐसा उत्पन्न नही होता, जिसका बीज उस व्यक्ति ने वर्तमान अथवा पूर्व जन्म मे वोया न हो।

कर्मवाद को दीर्घ दृष्टि

ऐसा एक भी स्थूल या सूक्ष्म, मानसिक या कायिक कर्म नही है जो इस या दूसरे जन्म मे परिणाम उत्पन्न किये विना विलीन हो जाय। कर्मवादी की दृष्टि दीर्घ इसलिये है कि वह तीनों कालो का स्पर्श करती है, जबकि चार्वाक दृष्टि दीर्घ नही है, क्योंकि वह मात्र वर्तमान का स्पर्श करती है। कर्मवाद की इस दीर्घ दृष्टि के साथ उसके वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक और विश्वीय उत्तरदायित्व तथा नैतिक बंधनों मे, चार्वाक की अल्प दृष्टि से फलित होने वाले उत्तरदायित्व और नैतिक बन्धनों की अपेक्षा, बहुत बड़ा अन्तर पड़ जाता है। यदि यह अन्तर बरावर समझ लिया जाय और उसका अ श भी जीवन मे उतर आए तब तो कर्मवादियों का चार्वाक पर किया जाता आक्षेप सच्चा समझा जायगा और चार्वाक के धर्म ध्येय की अपेक्षा कर्मवादो का धर्म ध्येय उन्नत और ग्राह्य है ऐसा जीवन व्यवहार से बताया जा सकता है।

कर्मशास्त्र अध्यात्म शास्त्र का अंश है।

अध्यात्म शास्त्र का उद्देश्य आत्मा-सम्बन्धी विषयो पर विचार करना है। अतएव उसको आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप का निरूपण करने से पहले उसके व्यवहारिक स्वरूप का भी कथन करना पड़ता है। प्रश्न यह होता है कि दृश्यमान वर्तमान अवस्थाएं ही आत्मा का स्वभाव क्यो नही है? इसलिये अध्यात्म शास्त्र का आवश्यक है कि वह पहले आत्मा के दृश्यमान स्वरूप की उपपत्ति दिखाकर आगे बढ़े। यही काम कर्मशास्त्र ने किया है। यह दृश्यमान सब अवस्थाओ को कर्म जन्य बतलाकर उनसे आत्मा के स्वभाव की जुदाई की सूचना करता है। इस दृष्टि से कर्मशास्त्र अध्यात्म शास्त्र का ही एक अंश है।

जब यह ज्ञात हो जाता है कि ऊपर के सब स्वरूप मायिक या वैभाविक है तब स्वयमेव जिज्ञासा होती है कि आत्मा का सच्चा स्वरूप क्या है? कर्मशास्त्र कहता कि आत्मा ही परमात्मा–जीव ही ईश्वर है। आत्मा का परमात्मा से मिल जाना इसका मतलब यह कि आत्मा का अपने कर्मावृत परमात्मभाव को व्यक्त करके परमात्म स्वरूप हो जाना। जीव परमात्म का अश है, इसका मतलब कर्मशास्त्र की दृष्टि से यह है कि जीव मे जितनी ज्ञान कला व्यक्त है वह परिपूर्ण परन्तु अव्यक्त (आवृत) चेतना चन्द्रिका का एक अंश मात्र है। कर्म का आवरण हट जाने से चेतना परिपूर्ण रूप मे प्रकट होती है। उसी को ईश्वर भाव या ईश्वरत्व की प्राप्ति समझना चाहिये।

धन, शरीर आदि बाह्य विभूतियों में आत्म बुद्धि करना, अर्थात् जड़ में अहंत्व करना बाह्य दृष्टि है। इस अभेद भ्रम को वहिरात्म भाव सिद्ध करके उसे छोडने की शिक्षा कर्म-शास्त्र देता है। जिनके सस्कार केवल वहिरात्मभावमय हो गए है उन्हे कर्मशास्त्र का उपदेश भले ही रुचिकर न हो परन्तु इससे उसकी सच्चाई में कुछ भी अन्तर नही पड़ सकता।

शरीर और आत्मा के अभेद-भ्रम को दूर कराकर उसके भेदज्ञान को (विवेक ख्याति को) कर्मशास्त्र प्रकटाता है। इसी समय से अन्तरदृष्टि खुलती है। अन्तरदृष्टि के द्वारा अपने में वर्तमान परमात्म भाव देखा जाता है। परमात्म भाव को देखकर उसे पूर्णतया अनुभव मे लाना यह जीव का शिव (ब्रह्म) होना है। इसी ब्रह्म भाव को व्यक्त कराने का काम कुछ और ढग से ही कर्मशास्त्र ने अपने पर ले रखा है, क्योंकि वह अभेद भ्रम से भेदज्ञान की तरफ झुका कर फिर स्वाभाविक अभेद ध्यान की उच्च भूमिका को ओर आत्मा को खीचता है। बस उसका कर्तव्य क्षेत्र उतना ही है। साथ ही योगशास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य अंश का वर्णन भी उसमें मिल जाता है। इसलिये यह स्पष्ट है कि कर्मशास्त्र अनेक प्रकार के आध्यात्मिक शास्त्रीय विचारों की खान है। यही उसका महत्व है। बहुत लोगो की प्रकृतियो की गिनती, सख्या की बहुलता आदि से उस पर रुचि नही होती, परन्तु उसमे कर्मशास्त्र का क्या दोष ? गणित, पदार्थ विज्ञान आदि गूढ़ व रसपूर्ण विषयो पर स्थूलदर्शी लोगो की दृष्टि नही

जमती और इन्हे रस नही आता, इसमें उन विषयों का क्या दोष ? दोष है समझनेवालो की बुद्धि का। किसी भी विषय के अभ्यासी को उस विषय में रस तभी आता है जब कि वह उसमें तल तक उतर जाए।

कर्म का बन्धन कब न हो ?

साधारण लोग यह समझ बैठते हैं कि अमुक काम न करने से अपने को पुण्य पाप का लेप न लगेगा। इससे वे उस काम को तो छोड देते है, पर वहुधा उनकी मानसिक क्रिया नहीं छूटती। इससे वे इच्छा रहने पर भी पुण्य-पाप के लेप से अपने को मुक्त नही कर सकते। अतएव विचारना चाहिये कि सच्ची निर्लेपता क्या है ? लेप (बध) मानसिक क्षोभ को अर्थात् कपाय को कहते है। यदि कषाय नही है तो ऊपर की कोई भी क्रिया आत्मा को बधन में रखने के लिये रामर्थ नही है। इससे उलटा यदि कषाय का वेग भीतर वर्तमान है तो ऊपर से हजार यत्न करने पर भी कोई अपने को बधन से छुडा नही सकता। कषाय रहित वीतराग सब जगह जल में कमल की तरह निर्लेप रहते है। पर कषायवान आत्मा योग का स्वांग रचाकर भी तिल भर शुद्धि नहीं कर सकता। इसीसे यह कहा जाता है कि आसक्ति छोड़कर जो काम किया जाता है वह बंधक नही होता। मतलव सच्ची निर्लेपता मानसिक क्षोभ के त्याग में है। यही शिक्षा कर्म-शास्त्र से मिलती है।

कर्म-बंध का कारण

जैन दर्शन में कर्मबंध के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय

और योग ये चार कारण बतलाये गए हैं। इनका संक्षेप पिछले दो (कषाय और योग) कारणों में किया हुआ भी मिलता है। अधिक सक्षेप करके कहा जाय तो यह कह सकते है कि कषाय ही कर्मबध का कारण है। यो तो कषाय के विकार के अनेक प्रकार हैं, पर उन सबका सक्षेप में वर्गीकरण करके आध्यात्मिक विद्वानों ने उसके राग, द्वेष दो ही प्रकार किये है। अज्ञान, मिथ्या ज्ञान आदि जो कर्म के कारण कहे जाते है वे भी राग द्वेष के सम्बध से ही है। राग की या द्वेष की मात्रा बढी कि ज्ञान विपरीत रूप में बदलने लगा।

कर्म से छूटने का उपाय

जैन शास्त्र मे परम पुरुषार्थ-मोक्ष-पाने के तीन साधन बतलाए हुए है। (१)-सम्यग् दर्शन (२)-सम्यग् ज्ञान और (३)-सम्यग् चारित्र। कही कही ज्ञान और क्रिया दो को ही मोक्ष का साधन कहा है। ऐसे स्थल में दर्शन को ज्ञानस्वरूप-ज्ञान का विशेष-समझ कर उससे जुदा नहीं गिनते।

जैन दर्शन में जिस सम्यग् चरित्र को सम्यग् क्रिया कहा है, उसमें कर्म और योग दोनों भागों का समावेश हो जाता है, क्योंकि सम्यग् चारित्र में मनोनिग्रह, इन्द्रियजय, चित्त-शुद्धि, समभाव और उनके लिये किये जानेवाले उपायों का समावेश हो जाता है। मनोनिग्रह, इन्द्रियजय, आदि सात्विक यज्ञ ही कर्म मार्ग है और चित्त शुद्धि तथा उसके लिये की जानेवाली सत्प्रवृत्ति ही योग मार्ग है। इस तरह कर्ममार्ग और योग मार्ग का मिश्रण ही सम्यग् चारित्र है। सम्यग्

दर्शन ही भक्ति मार्ग है क्योंकि भक्ति में श्रद्धा का अंश प्रधान है और सम्यग् दर्शन ही श्रद्धा रूप है। सम्यग् ज्ञान ही ज्ञान मार्ग है।

कर्म-सिद्धान्त के विषय में डा. मैक्समूलर का अभिप्राय

कर्म के सिद्धान्त की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में डा मैक्समूलर का जो विचार है, वह जानने योग्य है। वे कहते हैं:-यह तो निश्चित है कि कर्म मत का असर मनुष्य जीवन पर बेहद हुआ है। यदि किसी मनुष्य को यह मालूम पड़े कि वर्तमान अपराध के सिवाय भी मुझे जो कुछ भोगना पड़ता है वह मेरे पूर्व जन्म के कर्म का ही फल है तो वह पुराने कर्ज को चुकाने वाले मनुष्य की तरह शांत भाव से उस कष्ट को सहन कर लेगा। और वह मनुष्य इतना भी जानता हो कि सहन शीलता से पुराना कर्ज चुकाया जा सकता है तथा उसी से भविष्य के लिये नीति की समृद्धि इकट्ठी की जा सकती है, तो उसे भलाई के रास्ते पर चलने की प्रेरणा आप ही आप होगी। अच्छा या बुरा कोई भी कर्म नष्ट नहीं होता, यह नीति शास्त्र का मत और पदार्थ शास्त्र का बल संरक्षण सम्बन्धी मत समान ही है। दोनों मतों का आशय इतना ही है कि किसी का नाश नही होता। किसी भी नीति शिक्षा के अस्तित्व के सम्बन्ध में कितनी ही शंका क्यों न हो, पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि कर्ममत सबसे अधिक जगह माना गया है। उससे लाखों मनुष्यो के कष्ट कम हुए है और उसी मत से मनुष्यों को वर्तमान संकट

झेलने की शक्ति पैदा करने तथा भविष्य जीवन को सुधारने मे उत्तेजना मिली है।

उपसंहार

प्रकृति का प्रत्येक कार्य नियमबद्ध है। सूर्य चन्द्र का उदय अस्त होना, दिन रात का होना, ऋतुओं का वदलना इत्यादि कोई भी कार्य ऊटपटांग न होकर प्राकृतिक नियमों के अनुसार ही होते है। तब यह कैसे हो सकता है कि प्राणी का जन्म मरण, सुख दुख, अच्छाई बुराई इत्यादि का प्राकृतिक नियमों से सम्बद्ध न हो।

यह भी वैज्ञानिक सत्य है कि प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। तथा बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता। इसका सार यही निकलता है कि प्राणी जो कुछ भी मन से या वचन से या काया-शरीर से करता है उसकी प्रतिक्रिया अवश्य होती है। एक ही माता पिता की एक साथ जन्मी हुई दो सन्तानो मे प्रत्येक वात में भिन्नता, यह वात प्रमाणित करती है कि उनके जीवन का इतिहास माता के उदर मे आने से पहले से ही चल रहा है।

संसार मे मनुष्य, पशु, पक्षी, पेड़ पौधों में ही नही, किंतु जल, वायु, अग्नि, पृथ्वी तक में प्राण हैं। इसमें असमानता तथा एक ही जाति के प्राणियो में व्यक्तिगत भिन्नता होते हुए भी सब में एक वस्तु समान है और वह है उनमें चेतना, शरीर मे से उसके निकल जाने से चेतनाहीन मृतक देह रह जाती है। शरीर स्वभाव इत्यादि भिन्न होने पर भी यह एक वस्तु जो सब में समान है और चेतना जिसका गुण है,

आत्मा कहलाती है वह अमर है। पर वह अलग अलग शरीर में जन्म लेती है तथा एक ही जाति के प्राणियों में भी शरीर की बनावट, बुद्धि इत्यादि प्रत्येक बात में भिन्नता होती है। यह किसी न किसी नियम पर आधारित है। यही कर्म विज्ञान का विषय है।

प्राणी केवल इस पृथ्वी पर ही नहीं है किन्तु पृथ्वी से बाहर भी हैं। यह आवश्यक नहीं है कि वे पृथ्वी के प्राणियों जैसे ही हों और हम उन्हें आंखों से देख सकें ऐसे ही हों। पर उनमें प्राण है, आत्मा है। अर्थात् आत्मा के अनेक भिन्न-भिन्न रूपों में भ्रमण करने का क्षेत्र बहुत विशाल है।

एक मनुष्य अपनी दृष्टि केवल अपने कुटुम्ब तक ही सीमित रखता है उसके बाहर कुछ भी हो, उसे मतलब नहीं। दूसरा यह समझता है कि उसका सम्बन्ध सारे समाज से है। और तीसरा समझता है कि उसका सम्बन्ध सारे देश से है। इन सबकी दृष्टि में, आचरण और व्यवहार में भी अन्तर होना स्वभाविक है। पहले को हम संकीर्ण दृष्टि वाला कहेंगे। अन्य उसकी अपेक्षा विशाल और विशालतर दृष्टिवाले कहलायेंगे। इन दृष्टियों के अनुसार उनके स्वार्थों में भी अन्तर होगा। पहली दृष्टि वाला महान् स्वार्थी होगा। उसके आचरण से दूसरों का कुछ भी अहित हो या उन पर कुछ भी प्रभाव पड़े उसकी तरफ वह ध्यान ही न देगा। अन्तिम दृष्टिवाले की दृष्टि दोनों की अपेक्षा विशाल होगी। वह देखेगा कि उसके कृत्यों का प्रभाव सारे देश पर पड़ता है और उसका हित देश हित में ही है।

इसलिये उसके विचारों में उदारता, समन्वय आदि गुण अधिक होंगे। इसीलिये तो दुनियां में सुख शांति, पारस्परिक सद्भाव और सहृदयता की इच्छावाले एक दुनियाँ (वन वर्ल्ड) का आदर्श सामने रखते है। इन आदर्श वालों का जीवन व्यवहार संकीर्ण दृष्टिवालों की अपेक्षा अधिक उच्च और सुन्दर होना स्वाभाविक है। पर कर्म सिद्धान्त को माननेवालों की दृष्टि तो बहुत ही विशाल और विस्तृत होगी। उसका विस्तार दृश्य लोक से भी परे और मनुष्य जाति से भी आगे होगा। वह समझेगा कि उसकी किसी भी प्राणी के प्रति कोई भी क्रिया मन से हो या वचन से या शरीर से हो उसकी प्रतिक्रिया किसी भी रूप मे होकर किसी भी स्थिति में उसे डाल सकती है। अच्छे काम को प्रतिक्रिया अच्छी और बुरे को बुरी होना भी स्वाभाविक है। इसलिये निज के हित में वह सदा सावधान रहकर सबके प्रति अच्छे व्यवहार करने की चेष्टा करेगा। इस प्रकार वह अपने आपको सारे विश्व को सुखी बनाने के मार्ग पर चलाने का ध्यान रखेगा।

यह है कर्म सिद्धान्त कर्म विज्ञान का महत्व। एक दुनिया का सिद्धान्त तो इससे बहुत नीचे रह जाता है और उसका सम्बन्ध तो केवल मनुष्य जाति से है। उसके मानने वाले पशु पक्षी की हत्या मे दोष नही मानते। पर यह तो सबको मानना होगा कि पशु हत्या भी एक क्रूर कार्य है और वह मनुष्य में भी क्रूरता उत्पन्न करती है। और वही क्रूरता समय आने पर मनुष्य के प्रति भी क्रूरता का

व्यवहार करने लगती है। पर कर्म सिद्धान्त को पूरी तरह से स्वीकार करनेवाला तो क्रूरता के मार्ग पर भी नही जा सकता। इस प्रकार कर्म सिद्धान्त संसार को सुख शांति देने का, मनुष्य की दृष्टि विशाल बनाने का, एक महत्वपूर्ण साधन है। संसार की यदि आज इस सिद्धान्त पर श्रद्धा होती तो संसार का आज दूसरा ही रूप होता।

जो कर्म में लिखा है वही होगा मान कर अकर्मण्य हो जाना, जैन कर्म सिद्धान्त के अनुकूल नही है। जैन धर्म पुरुषार्थ मे विश्वास रखता है। स्वयं भगवान् महावीर ने पुरुषार्थ द्वारा, तपस्या द्वारा, अपने मन पर विजय प्राप्त कर कर्मबन्धन काट कर मोक्ष प्राप्त किया। जैन धर्म पुरुषार्थ—स्वावलम्बन को इतना महत्त्व देता है कि जब भगवान् महावीर पर साधु अवस्था में भयंकर कष्ट आने लगे तब देवता ने उनके साथ रहकर उनकी रक्षा करने की आज्ञा मांगी, तो उन्होंने कहा कि यह न तो कभी हुआ और न कभी होगा कि कोई भी किसी अन्य के सहारे से कोई भी ध्येय प्राप्त करे। जैन धर्म में किसी कार्य सिद्धि के लिये देवी देवताओं की खुशामद की गुंजाइश नहीं। स्वयं तीर्थंकर परमात्मा भी किसी के जीवन में सहायता या हस्तक्षेप नहीं करते। प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है। तीर्थंकर केवल सिद्धांतों का प्रतिपादन करते है। उनके पालन के लिये किसी को आदेश नहीं देते। तीर्थंकर नाम स्मरण, पूजा, भक्ति आदि केवल उनके जीवन और उनके उपदेशों से प्रेरणा पाने की दृष्टि से ही किये जाते हैं।

कर्म निर्जरा सिद्धांत भी पुरुषार्थ का महत्व बताता है। कर्म फल देकर भी आत्मा से छूट जाते है और पुरुषार्थ द्वारा भी छुड़ाये जा सकते है। जो फल देकर स्वयं छूट जाते है वह छूटना अकाम निर्जरा है, पर पुरुषार्थ द्वारा छुडाने को सकाम निर्जरा कहते है, और यह पुरुषार्थ वे सव उपाय है जिनसे आत्मशुद्धि हो, चित्त को मलीनता दूर हो। यह मन, वचन, काया को नियंत्रण मे लाकर आत्मा को शुद्ध करते हैं और तप कहलाते है। जिसका वाह्यरूप तो उपवास व्रत आदि है पर आन्तरिक रूप अधिक महत्व का है वाह्य क्रियाएं तो सहायक रूप है। अंतरंग तप को और बाह्य क्रियाये तो सहायक रूप है। अंतरंग तप को अभ्यंतर तप कहते है। यह है, अनुचित कार्यो का प्रायश्चित और पुन: न करने का सकल्प, सद्गुण बढ़े, उन्हे उपार्जन करने मे प्रेरणा मिले ऐसे कार्य, सद्गुण प्राप्त करावें ऐसे ज्ञान का अभ्यास, ममत्व का त्याग तथा चित्त से उद्वेगो विक्षेपो के त्याग का चिंतन। ये सब पुरुषार्थ ही है।

कर्म सिद्धान्त मनुष्य के सुख दुख के कारण वताता है। वह कहता है कि संसार में जो सुख है वे भी दुख मिश्रित है तथा वे आत्मा के वास्तविक सुख-गुण नही है। वह इन सुख दु:खो के कारणों को रोकने के उपाय बताता है और इसके लिये पहले दु.ख के कारणो पर विजय प्राप्त कर फिर दु:ख मिश्रित सुखों अर्थात् सुखाभास से भी ऊपर उठने का मार्ग बताता है। जिससे आत्मा अपना वास्तविक शुद्ध स्वरूप प्राप्त करले। इस सुख मार्ग पर एक एक कक्षा वार प्रगति करने को योग कहते हैं। जिसका विवेचन आगे के प्रकरणों में किया गया है।

परिशिष्ट

कुछ उद्धरण

१

सुख दुख कारण जीवने
कोई अवर न होय.
कर्म आप जे आचार्या
भोगवीए सोय

—अध्यात्म कल्पद्रुम

२

सुख दुख सहुए अनुभवेरे
केवल कर्म पसाय,
अधिक न ओछूं तेहमांरे,
कोधू कोणे न जाय।

—श्रीपालरास

३

जन्म जरा मरणे करीए
आ संसार असार तो,
कर्या कर्म सहु अनुभवे ए
काई न राखन हारतो
शरण एक अरिहंत नू ए
शरण सिद्ध भगवंत तो
शरण श्री धर्म जैन ए
साधू शरण गुणवंत तो।

—श्री पुण्य प्रकाश स्तवन
श्री विनयविजयजी कृत

श्री हरिभद्रसूरि

कृत

योग बिन्दु

आचार्य श्री ऋद्धिसागरसूरि कृत

गुजराती भाषा निबद्ध बुद्धिसागर विवेचन युक्त ग्रंथ

पर आधारित

योग बिन्दु

संसार का रूप

इस संसार में जीव अनादि काल से अनेक आधि व्याधि उपाधि मय संताप से पीड़ित, अनेक जनम मरण में भटकता रहता है। काम, क्रोध, माया, लोभ, राग, द्वेष, हिंसा, चोरी मैथुन, परिग्रह, निन्दा, चुगली, मूर्च्छा इत्यादि विषमय बातों को अज्ञान के कारण आनन्ददायक मानता है। पर अन्त में उनके कटु परिणाम—दुःख ही भोगता है।

इन सब दुखों से मुक्त होना ही मोक्ष है। ऊपर लिखे कारणों से जो आत्मा के कर्मरज लग जाते हैं उनके नाश से ही आत्मा मोक्ष प्राप्त कर सद्चिदानन्द, शिव, मुक्त परमात्मा परब्रह्म बन जाता है। इनकी दृष्टि में देव, इन्द्र चक्रवर्ती अधिपति श्रेष्ठी इत्यादि पद और विषय भोग के साधन रोग के कारण हैं। और शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा तथा आस्तिकता लक्षण युक्त सम्यक्त्व रूप इच्छायोग, चारित्र धर्म प्रवृतियोग तथा ज्ञानयोग और यम-नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यानधारण, समाधि इत्यादि मोक्ष के कारण है।

आत्मा-जीव, अन्य पुद्गलों के संयोग से संसारी कहलाता है और उनके वियोग से वह मुक्त हो जाता है, मोक्ष प्राप्त कर लेता है, निजो स्वभाव प्राप्त कर लेता है।

——

ऊपर उठने के साधन

जो क्रिया मोक्ष से सम्बन्ध कराती है, उसे प्राप्त कराती है वह योग कहलाती है। यह योग क्रिया पांच प्रकार की होती है।

१. अध्यात्म	२ भावना	३. ध्यान
४ समता	५ वृत्ति संक्षय	

ये मोक्ष मार्ग के अंग हैं। और ये अंग पहले से दूसरा और उससे तीसरा इस प्रकार एक से एक श्रेष्ठ हैं।

१. **अध्यात्म**—आत्मा की अवस्था (स्थिति) के तीन भेद हैं—

(क) वाह्यात्मा (वहिरात्मा) (ख) अन्तरात्मा और (ग) परमात्मा।

(क) **बाह्यात्मा**—अथवा वहिरात्मा का ध्येय केवल मन और इन्द्रियों के विषय (भोग) ही होता है। इस शारीरिक भोग के लिए वह कुछ भी कर सकता है। उसकी लगन केवल स्व तथा स्व-कुटुम्ब, परिवार के संसारी सुख से ही लगी रहती है। उसके लिये धर्म, परभव, न्याय नीति इत्यादि का कोई महत्व नहीं। उसकी प्रवृत्ति सदा मिथ्यात्व (धर्म विमुखता) अविरति (अमर्यादित भोग) हिंसा, असत्य, चोरी,

कुशील, धन, मूर्च्छा, कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि) और अन्य अशुभ कार्यो में रहती है ।

(ख) **अन्तरात्मा**—यह दशा उपरोक्त बहिरात्मा दशा से विपरीत है । इस दशा में आत्मा उचित-अनुचित का भेद समझने लगता है, वास्तविकता का उसे ज्ञान और उस पर श्रद्धा होने लगती है और उसी के अनुसार वह अपना चरित्र बनाने, ढालने लगता है, उसमें गुणों का विकास होने लगता है, सत्यशोधन में उसकी रुचि बढ़ती है और उसकी आत्मा पवित्रता-शुद्धता की ओर बढ़ती हुई कर्ममल के आवरण से मुक्त होती जाती है और आत्म विकास होता जाता है ।

(ग) **परमात्मा**—यह सर्व कर्ममल से मुक्त शुद्ध स्वरूप को, मोक्ष को, प्राप्त आत्मा है, यह परमात्म भाव दशा है ।

बहिरात्मा स्थिति से उठ कर अन्तरात्मा स्थिति प्राप्त करता हुआ परमात्मा स्थिति प्राप्त करने के साधन को अध्यात्म योग कहते है ।

२. **भावना**—जिन विचारो के चिन्तन से आत्मा उन्नत होकर वह बहिरात्मा भाव को त्यागे, उस चिन्तन को भावना कहते है । ये भावनाए दो प्रकार की होती है । पहली १२ भावना, जो संसार की वास्तविकता बतलाती है जिससे सांसारिक परिस्थितियों से मोह कम हो और दूसरी चार भावनाएं जो जीवन पथ में मार्ग दर्शन करे ।

बारह भावनाएँ

(१) **अनित्य भावना**—अर्थात् संसार की सब वस्तुएं विनाश शील है, अस्थाई हैं, नित्य सदा रहनेवाली नहीं है। यह समझ कर व्यवहार करना चाहिये।

(२) **अशरण भावना**—संसार में प्रतिकूलताओं से रक्षण केवल आत्म बल पर ही आधारित है, परमुखापेक्षी नही होना चाहिये। आत्मबल आत्मशुद्धि अर्थात् धर्म पर निर्भर है।

(३) **संसार भावना**—संसारी आत्मा अपने किये कार्यो के परिणाम स्वरूप चारों गतियों में घूमता हुआ अनेक दुःखों का अनुभव करता है जहां थोड़ा सुख भी है तो अस्थाई है दुःख मिश्रित है।

(४) **एकत्व भावना**—प्राणी अपने किये शुभाशुभ कार्यो का, कर्मो का परिणाम स्वयं अकेला ही भोगता है कोई उसका साथ नहीं देता है।

(५) **अन्यत्व भावना**—शरीर, कुटुम्ब, परिवार, सम्बन्धी का निजी आत्मा से कोई सार्थक सम्बन्ध नही है, इनका सम्बन्ध संयोग वश है, स्थाई नहीं है। इसमें जो भी अपनापन दीखता है केवल स्वार्थाधीन है। अन्यथा सब अलग अलग ही है।

(६) **अशुद्धि भावना**—यह शरीर कोई पवित्र वस्तु

नहीं है किन्तु अशुचिपूर्ण वस्तुओं से भरा है। परन्तु मोहाधीन इसे इतना महत्व दिया जाता है। परमतत्त्व तो आत्मा ही है।

(७) **आश्रव भावना**—अज्ञान मिथ्यात्व, राग, द्वेष इत्यादि कारणों से कर्मरज आकर्षित होकर आत्मा को मलीन करता है जिसके परिणाम स्वरूप संसार मे दुःख या अल्प स्थाई सुख मिलते हैं पर वास्तविक शाश्वत सुख मोक्ष सुख दूर होता जाता है।

(८) **संवर भावना**—सद्पुरुषार्थ से, संयम से कर्म आश्रव और कर्म बंधन रोके जा सकते है।

(९) **निर्जरा**—सद्पुरुषार्थ-बाह्य और अभ्यंतर तप से इन कर्मो से जो आत्मा के साथ लगे हुये है और उसके स्वाभाविक गुणों को आवरित किये हुए है दूर किये जा सकते हैं, हटाये जा सकते हैं।

(१०) **लोक स्वभाव भावना**—लोक स्थिति, लोक स्वभाव पर चिंतन करना जिससे वास्तविक ज्ञान हो और मोह दूर हो या घटे।

(११) **बोधि दुर्लभ भावना**—सद्ज्ञान प्राप्त करने के अवसर मिलना महादुर्लभ है। पतन आसान है पर उत्थान कठिन है इसलिए आत्मा के उत्थान का अवसर मिले तो उसे प्रमाद में नही खो देना चाहिये।

(१२) **धर्म भावना**—अप्रमाद भाव से जिस प्रकार

भी आत्मा का कल्याण हो, शुद्धता प्राप्त हो ऐसी आराधना करना, ऐसी दृष्टि सामने रखते हुये जीवनयापन करना।

चार भावना

जिस प्रकार बारह भावनाओं से शुभ चिन्तन को प्रोत्साहन मिलता है, उसी प्रकार निम्न चार भावनाओं से आत्मोन्नति में अग्रसर होने में सहायता मिलती है। ये चार भावनाएं इस प्रकार हैं—

(१) **मैत्री**—सर्व प्राणियों के प्रति मैत्री भाव रखना। किसी भी प्राणी के प्रति द्वेष भाव, क्रोध भाव या अन्य कुभाव नहीं रखना।

(२) **प्रमोद भाव**—अन्य में उत्तम गुण देखकर चित्त में प्रसन्न होना, जिससे स्वयं में भी उत्तम गुण उत्पन्न हों और अन्यों को प्रोत्साहन मिले।

(३) **करुणा भाव**—दुखी प्राणियों को दुःख निवारण में सहायता करना, कुमार्ग में जाने वालों को सद्मार्ग पर लाने की चेष्टा करना।

(४) **माध्यस्थ भावना**—जो कुमार्ग पर चलते हों और जिन पर सदुपदेश का प्रभाव नहीं पड़ता हो उनके उत्थान का कोई मार्ग नही दीखता हो उनके प्रति रोष या क्रोध न कर माध्यस्थ भाव धारण करना।

३—**ध्यान**—यह आत्मा को अध्यात्म और भावना की अपेक्षा और भी ऊपर उठाता है, शुद्धतर करता है। ध्यान चार प्रकार के होते है—

(१) आर्त्तध्यान, (२) रौद्रध्यान, (३) धर्मध्यान, (४) शुक्लध्यान। इनमें प्रथम दोनों आत्मा का पतन करते हैं और अन्तिम दो उसका उत्थान करते है।

(१) **आर्त्तध्यान**—इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिये तथा अनिष्ट से छुटकारा पाने के लिये अथवा सांसारिक जीवन-यापन के लिये मानसिक प्रयत्न अर्थात् विचारधारा आर्त्तध्यान है।

(२) **रौद्रध्यान**—उपरोक्त विचारधारा का रौद्र रूप तीव्र रूप जो हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन परिग्रह की तीव्र इच्छा को व्यक्त करता है जिससे भयंकर परिणाम निकलते हैं रौद्र ध्यान है। ये दोनों ध्यान आत्मा का पतन करते है इसलिये इनको त्यागने ही की चेष्टा करनी चाहिये।

(३) **धर्म ध्यान**—इसका उद्देश्य पाप वृत्तियों को रोकना है—हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह आदि पर संयम लाना, इन्हे त्यागने का संकल्प करना है।

धर्मध्यान चार प्रकार से किया जाता है—

(क) आज्ञाविचय—भगवान् के आगम (भगवान् के वचन) का अभ्यास और उसके अनुसार अनुभव कर चारित्र पालन करना। (ख) अपायविचय—संसार अनित्य हैं और

दुःखों से कैसे छुटकारा हो इस पर विचार करना। (ग) विपाक-विचय—संसार में सुख-दुःख मिश्रित हैं, अमिश्रित पूर्ण सुख कहीं नहीं है। इस पर विचार करना। (घ) संस्थान विचय —लोक का स्वरूप तथा द्रव्य गुण पर्याय का विचार करना।

धर्मध्यान के दूसरे प्रकार से भी चार भेद किये गये हैं—

(क) पिंडस्थ ध्यान—भगवान् की प्रतिमा की ओर ध्यान लगा कर अपने चारित्र को दृढ़ करना। (ख) पदस्थ ध्यान —भगवान् ने आत्मा इत्यादि तत्त्वों का जो उपदेश दिया उनके अनुसार स्वात्मा पर दृष्टि रख कर ध्यान करना। (ग) रूपस्थ ध्यान—भगवान् की आत्मस्वरूपी निर्मलता पर स्वात्मा की दृष्टि रख कर ध्यान करना। (ग) रूपातीत ध्यान—निरावलम्बन भाव से सिद्ध परमात्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों का अपनी आत्मा के साथ मिलान कर परमात्मा स्वरूप का ध्यान करना। यह ध्यान मोक्ष के लिये ही है और योग का मुख्य अङ्ग है।

(४) **शुक्ल ध्यान**—मोह त्याग कर विवेक पूर्वक वैराग्य धारण कर, शरीर और आत्मा का भेद समझ कर और धर्मध्यान में स्थिरता आजाने पर आगे क्रिया रहित, इन्द्रिया-तीत, ध्यान की धारणा रहित, स्वरूप सन्मुख चित्त लगाना, कपाय रूप मेल रहित चित्त होना शुक्ल ध्यान है। इसके चार भेद हैं। प्रथम दो भेद में श्रुतज्ञान तथा योग के सिवाय अन्य कोई अवलम्बन नही रहता। यह छद्मस्त योगी को होता है। अन्य दो भेद में कोई भी अवलम्बन नहीं रहता।

यह केवली को ही होता है। पहला विभाग तीन योग वाले को, दूसरा एक योग वाले को, तीसरा तनुयोग वाले को और चौथा अयोगी को होता है।

(४) **समता**—अर्थात् सर्व जगत् पर समभाव रखना, कोई भी हो, पुत्र परिवार, इष्ट मित्र अथवा विरोधी सबके प्रति समभाव रखना यही समता है। कषायों पर विजय पाना, इन्द्रियों का निग्रह, शत्रु मित्र पर समभाव।

(५) **वृत्ति संक्षय**—अर्थात् मन, वचन, काया की प्रवृत्ति पर पूर्ण नियन्त्रण कर लेना।

ये पाँचों अनुष्ठान आत्मा के शुद्ध, पवित्र और स्व-स्वरूप में स्थित कराने के क्रमशः एक से एक उत्तम साधन हैं।

उपरोक्त साधनों का प्रभाव-गुण प्राप्ति

इन योगानुष्ठानों से स्थिरता और श्रद्धा उत्पन्न होती है, मैत्रो, जनप्रियता और प्रतिभा पूर्ण वातावरण पैदा होता है और सच्चे तत्त्व का ज्ञान होता है।

इनसे आग्रह रहितपन आकर दृष्टि विशाल होती है, कष्टों, परिषह तथा प्रतिकूलताओं को दृढता के साथ सहन करने की शक्ति, सहनशीलता आती हैं।

उपरोक्त योगाभ्यास से धीरज, क्षमा, सदाचार, योग-वृद्धि अर्थात् सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चारित्र की साधना, समन्वय दृष्टि, उत्तम पुरुषों के प्रति आदर उत्पन्न होता है और इसके परिणाम स्वरूप अपूर्व समभाव का सुख प्राप्त होता है।

जिन्होंने मद, अहंकार, इंद्रिय भोग लालसा का त्याग किया है और जिनका मन, वचन और काया विकार रहित है, जिन्होंने मान, यश इत्यादि संसारी बातों की लालसा छोड दी है, इस प्रकार जिनकी आत्मा अप्रमादी शुद्ध चारित्रवंत है उनको इसी लोक में मोक्ष सुख का अनुभव हो जाता है।

उपरोक्त साधनों के लिये योग्यता

उपरोक्त योगानुष्ठान फलदायक होने के लिये उन्हें करने वाले में तदानुसार योग्यता, पात्रता होना आवश्यक है।

क्षुद्र, लोभी, दूसरों को दुःखी देख आनन्द पानेवाले, ईर्षालु क्रोधी, मायावी, और अन्य दुर्गुणवाले व्यक्ति इन अनुष्ठानों के पात्र नहीं होते है।

योग के प्रथम भेद अध्यात्म को प्राप्त करने के लिये आत्मा चारों गतियो में भ्रमण करता हुआ उस स्थिति पर पहुँचा हुआ होना चाहिये कि उसमें विवेक उत्पन्न हो जावे और वह शुद्ध देव, गुरु और धर्म को पहचानने लगे।

क्षुद्र, लोभी तथा दुर्गुणी अपात्र व्यक्ति यदि इस प्रकार के अनुष्ठान अथवा तप, पूजा, आराधना, रूप सत्क्रिया करते भी हैं तो वे केवल लोक रंजनार्थ ही है, कीर्ति के लिये ही हैं और वे धर्म को हीन दृष्टि से देखते है। इसलिये ये सब पापमय हैं।

सरल प्रकृतिवाले व्यक्ति धर्म निमित्त जो भी क्रिया लोकरंजन के लिये भी करते है वे भी पुण्य के कारण हैं पर कपट बुद्धिवाले लोकरंजन के लिये जो भी क्रिया करता है वह पाप ही का कारण होतो है।

मिथ्यात्व, क्रोध मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, काम, इच्छा, मूर्च्छा इत्यादि से मलीन आत्मा वाले भवाभिनन्दी होते है, उनका मन दया, दान, ब्रह्मचर्य, आकिंचन्य, सत्यवचन इत्यादि के विरुद्ध होता है, उनकी मलीन बुद्धि अध्यात्म भाव प्राप्त नही कर सकती ।

इसीलिये लोक को दिखाने मात्र के लिये जो धर्म क्रिया की जाती है, वह आत्म धर्म प्रगट करने में असमर्थ होतो है । भवाभिनन्दी, आत्मा को उत्थान करने वाली क्रिया के अयोग्य होते है ।

——

उन्नति के लिये प्रथम पाठ

अध्यात्म योग के लिये पूर्व भूमिका अर्थात् प्रथम सीढ़ी पूर्व सेवा है। पूर्व सेवा का तात्पर्य है गुरु सेवा, देव पूजा, सदाचार, तप और मुक्ति के प्रति अद्वेष। जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप तथा क्रिया में अप्रमादी है और जीवों को मोक्ष मार्ग बताते है, वे गुरु है। उनकी श्रद्धा पूर्वक विनय भक्ति आदर करना गुरु सेवा है।

उत्तम आत्मगुणों से पूर्ण सर्व जीवों के प्रति अपूर्व कृपा करनेवाले (सत्य मार्ग बतानेवाले) देव है, उनकी पूजा स्तुति करना, उनका ध्यान करना, उनके गुणों को याद करना देव पूजा है। अच्छे यम, व्रत, नियम अर्थात् अनेक प्रकार से इन्द्रियों तथा मन को नियंत्रित करने का अभिग्रह करना तथा दान, दया, ब्रह्मचर्य क्षमादि सब शुद्धाचार तथा तप-मन को शुद्ध वनानेवाले तथा पाप व्यवहार को दूर करनेवाले बाह्य तप तथा विनय, वैयावृत्य, शास्त्राभ्यास, ध्यान, इन्द्रियजय इत्यादि अभ्यन्तर तप, ये सब सदाचार है। तथा आत्मा को कर्म रहित कर अत्यत शुद्ध करना यह मोक्ष, इस पर द्वेष न रखना, परन्तु मोक्ष मार्ग पर प्रेम रखना यह मुक्ति अद्वेष है। यह सब पूर्व सेवा है।

माता, पिता, सम्बन्धी, शिक्षक, वृद्ध, धर्मोपदेशक इत्यादि भी गुरु है और पूज्य हैं। इनका जिस कार्य से अनिष्ट हो उसका त्याग करना, उनका हित हो ऐसी प्रवृत्ति करना,

उनके लिये जो उचित हो, जिससे उनके धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ में बाधा या कष्ट न हो ऐसे कार्य करना चाहिये।

जो दीन, अन्धे, रोगादि व्याधियुक्त हों, निर्धन हों तथा इसी प्रकार की अन्य वातें हों उनका दान द्वारा पोषण करना चाहिये।

सर्वत्र सर्व प्रकार की निन्दा का त्याग करना, साधु पुरुषों का गुणगान करना, विपत्ति के समय भी दीनता अंगीकार न करना और सम्पत्ति के समय भी अभिमान न करना ये सव सदाचार है।

समयानुकूल बोलना, सत्य बोलना और वचन का पालन करना, ये भी सदाचार के लक्षण हैं।

वुरे कार्य में धन और पुरुषार्थ न लगाना, धार्मिक स्थानों में जैसे योग्य हो वैसा करना, प्रमाद का त्याग करना भी सदाचार है।

लोक व्यवहार में उपयोगी, लोक व्यवहारानुसार यथा योग्य नियमानुसार, विनय, नमन, दान इत्यादि का व्यवहार पालन करना, निन्दनीय प्रवृत्ति न करना, प्राण नाश का प्रसंग आवे तव भी अनीतिमय प्रवृत्ति नहीं करना भी सदाचार है।

सर्व कर्मो के संपूर्ण क्षय होने पर मुक्ति प्राप्त होती है और वह भोग और दुःख से रहित है। भवाभिनन्दी प्राणी अज्ञान और मिथ्यात्व के कारण मोक्ष पर, मुक्ति पर द्वेष रखते है।

पूर्व सेवा के जितने प्रकार वताये है उनमें सवसे अधिक महत्त्व का मुक्ति प्रति अद्वेष हो है।

क्रियाओं-अनुष्ठानों के ध्येय में सावधानी की आवश्यकता

देव पूजा, गुरु भक्ति, व्रत, पच्चक्खाण, तप, जप अ
अनुष्ठान कहलाते है। ये कर्त्ता के अध्यवसाय तथा अभिप्र
के अनुसार अलग अलग प्रकार के होते है।

कीर्ति की इच्छा से किये अनुष्ठान आत्मा के शुद्ध प
णामों का नाश करते है इसलिए यह विष अनुष्ठान है।

स्वर्ग, सम्पत्ति, सासारिक सुख प्राप्ति की अभिलाषा
किये हुये अनुष्ठान, अन्त मे आत्मा के दुःख तथा अधःपतन
कारण होते है इसलिए वे गरानुष्ठान कहलाते है।

बिना शुद्ध अध्यवसाय के देखा देखी तथा उचितानु
की विचार शक्ति बिना किये अनुअनुष्ठान कहलाते हैं।

आत्मोन्नति और मोक्ष को मुख्य ध्येय मानकर किये ज
वाले अनुष्ठान, सद्अनुष्ठान कहलाते है।

अत्यन्त संवेगभावत ज्ञान, दर्शन, चारित्र गुणों
श्रेष्ठतर भाव युक्त मोक्षमात्र की अभिलाषावाले जो मुनि
उत्तम भाव मे सम्यग् उपयोग से तप, जप, ध्यानमय
अनुष्ठान करते है वे अत्यन्त संवेग रग में गर्भित हो,
अमृतानुष्ठान कहलाते हैं। ऐसी आत्माओ का मोक्ष निव
ही समझना चाहिये।

धर्म अर्थात् आत्म विकास के अधिकारी

क्षुद्र स्वभाव, लोभी, कपटी, अज्ञानी आदि ऐसे ही दुर्गुणवाले प्राणी भवाभिनन्दी कहे जाते हैं और इनके विपरीत गुणवाले अर्थात् उदारता, निर्लोभता, अदीनता अमत्सर, निर्भयता, सरलता, विवेक, ज्ञान और इसी प्रकार के गुणोंवाले और जिनके गुण उत्तरोत्तर बढ़ते रहें और जिनकी प्रवृत्ति देव पूजा, गुरु भक्ति, दान, शील, तप इत्यादि गुण तथा क्रिया इत्यादि में शुद्धि पूर्वक रहती है धर्म के अधिकारी होकर मोक्ष मार्ग में प्रवृत्ति करते हैं और अपुनर्बंधक कहलाते है।

यह अपुनर्बंधक हो पूर्व-सेवा सत्य रूप में न कि उपचार रूप से करते है और धर्म के सच्चे अधिकारी और आत्मा का कल्याण करनेवाले होते है।

क्रोधादि कषायों से जिसकी आत्मा प्रभावित नहीं है ऐसे लोगों की आत्मा शांत, उदात्त प्रकृति की होने से उनकी बुद्धि शुभ पुण्यानुबंधी पुण्यवाली होती है और उन्हें विशेष प्रकार के गुणों की प्राप्ति होती है।

कर्मयोगी जो अपुनर्बंधक है वह मन की प्रणिति अशुभ अध्यवसाय विना की रखकर बाह्य संसार में कुटुम्बादि का

कार्य करता है तथा उसके अध्यवसाय शुद्ध आत्म स्वरूपवाले होने के कारण उत्तम मोक्षमय स्वरूप में रमण करनेवाले होते है।

जिन्होंने तीव्र राग द्वेष पूर्ण परिणामवाली आत्मा की चित्तवृत्ति रूप मोह की गाँठ को काटी है--ग्रंथी भेद किया है ऐसे पुरुष प्रायः मोक्ष का ध्येय रखकर तप, जप, संयम, ध्यान समाधि में चित्त रखते हुये, साँसारिक कार्य, माता पिता की सेवा, स्वजनों के भरण पोषण आदि व्यवहार कार्य करते रहते है, वे भावयोगी कहलाते है।

जहां तक मोहमय कर्म प्रकृतियों का उदय रहता है आत्मा आत्म विकास योग्य पुरुषार्थ नहीं कर सकता। पर जिसने मोह ग्रंथी को काट डाली है, वह अनन्तानुबन्धी (तीव्र) कषायों को नष्ट कर, मन को विमल शुद्ध कर आत्मा को तीव्र कर्म प्रकृतियों से छुड़ाकर उनके अधिकार, प्रभाव, से आत्मा को दूर कर लेता है। और राग द्वेष की निवृत्तिरूप धर्म को प्राप्त करने का तर्कमय चिन्तन सहज ही प्राप्त करता है। इस तरह उसमें ईर्षा, द्वेष, माया, कपट इत्यादि क्षुद्रता नाश होती है और आत्मभाव पूर्ण स्थिरता प्राप्त होती है और वह सदा शुद्ध अनुष्ठान करता रहता है। यह शुद्ध अनुष्ठान ही योग कहलाते है और शुद्ध पूर्व सेवा द्वारा यह क्रमशः प्रकाशित होता है।

जहां तक बाह्य पुद्गल अर्थात् धन, कुटुम्ब, निजी शरीर आदि को ही सब कुछ समझता है और उनमें ही ममता

रखता है तब तक वह आत्म विकास मोक्ष के लिये प्रयत्न हो नही कर सकता है। परन्तु जब इन भावों को त्यागकर मोक्ष का अभिलाषी बनता है तब ही मोक्ष मार्ग गमन योग्य प्रयत्न अनुष्ठान कर सकता है। ऐसे शुभ प्रवृत्तियों से अन्तरात्म भाव प्रगट होता है। शुभानुष्ठान करने की अभिलाषा जागृत होती है। उसे योग्य सद्गुरु की उपासना करने की अभिलाषा होती है और गुरु उसे योग्य जानकर सदानुष्ठान के उपदेश देता है और वह यथार्थ आत्म स्वरूप का अनुभव करता है। तब तत्त्व-सत्य, प्राप्त करने की उसमें तीव्र भावना उत्पन्न होती है। उसे समभाव, संवेग और निर्वेद भाव, भगवान् और गुरु के उपदेशों से आस्तिकता उत्पन्न होती है। इससे सब जीवात्माओं पर करुणाभाव पैदा होता है और वह सच्ची भक्ति से धार्मिक क्रिया, व्रत, जप, पूजन इत्यादि करता है और धीरे धीरे भाव मुनि बनने की अभिलाषा पैदा होती है। ये ही मोक्ष मार्ग प्राप्ति के चिह्न है।

रागद्वेष की ग्रंथी को काटना

राग, द्वेष, मोह, माया के परिणाम स्वरूप अति कठिन कर्मों की गांठ (ग्रंथी) अपूर्वकरण द्वारा तोड़ी जाती है। अर्थात् जब ग्रंथी भेद हो जाता है, तब अनंतानुबंधी मोहनीय चौकड़ी को तथा मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय, और समकित मोहनीय का उपशमादि करके दर्शन की प्राप्ति करता है और आत्मा शुद्ध सम्यक्त्व को प्राप्त कर सम्यग् दृष्टि हो जाता है। जब अत्यंत शक्तिवाले प्रशम संवेद, निर्वेद, अनुकंपा, आस्तिकता आदि गुण प्रकट रूप से बढ़ने लगते हैं। परापराधों को क्षमा करना और कषायों को दबाना प्रशम है। संसार में दुःख ही दुःख है जो सुख दीखता है वह भी अंत में दुःख ही है। ऐसा अनुभव कर आत्मा केवल मोक्ष की इच्छा रखे, यह संवेग है। संसार के प्राणियों के दुःख कैसे दूर किये जावें इसका विचार अनुकंपा है। जिस प्रकार के जीवनयापन में संसार में दुःख भोगता हुवा आत्मा भ्रमण करता है और अनंत सुख पूर्ण मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता है उस पर विचार कर संसारी विषयों में ममत्व बुद्धि छोड़ने की इच्छा करता है वह निर्वेद है। परमात्मा वीतराग तीर्थंकरों ने प्राणियों को जो कल्याण मार्ग बताया है उस पर निश्चय पूर्वक सन्देह रहित होकर श्रद्धा, दृढ़ विश्वास करना है वह आस्तिकता है। ऐसे लक्षण युक्त भाव ही आत्मगुण रूप सम्यग् दर्शन है।

अपुनबंधक भाव वाले प्राणी जिसने सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया है उसे भाव दया-करुणा और सत्य धर्म पर पूर्ण श्रद्धा होती है। सर्व जीवों पर करुणा अर्थात् उन्हें दुःख से मुक्त करने की इच्छा, संसार में अनुकूल या प्रतिकूल लगने वाले सम्बन्धों की असारता, देव आदि के भोग अन्त में दुःख हेतु ही हैं, संसार के सर्व भोग, अन्त में दुःख के ही हेतु है इसलिये उनका और उनकी इच्छा का भी त्याग करना ही सर्व कर्म से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्ति का केवल मात्र उपाय है। मेरा जो अनिष्ट होता है, वह केवल मेरे कर्मों का ही फल है न कि किसी व्यक्ति विशेष का दोष, ऐसा विचार कर वह क्रोध का त्याग करता है। इस प्रकार के गुण धारण करने वाला तथा उनसे मोक्ष लाभ हो ऐसे विचार से प्रवृत्ति करने वाले निरन्तर निज के गुणों का विकास करता हुआ महान् पुण्यों का उदय प्राप्त करता है।

पूर्वकालीन बंधे हुए कर्म का नये बंधने वाले कर्मो द्वारा नाश नही होता है, इसी प्रकार नये बंधन वाले कर्म, उपकारक (उत्पत्ति करने वाले) उत्पन्न करने वाले भी नहीं होते। परन्तु आत्मा पुरुषार्थ करता है उसीसे शुभ अथवा अशुभ कर्मो का नाश अथवा उपकार (उत्पत्ति) उसके अध्यवसायानुकूल होता है।

यदि कर्म का उदय बलवान हो तो पुरुषार्थ निर्बल हो जाता है और यदि कर्म के मुकाबले में पुरुषार्थ बलवान होता है तो कर्म की हार हो जाती है.

सम्यक्त्व

इस प्रकार अनादि काल से आत्मा भव भ्रमण करता हुआ जब ग्रंथी भेद की स्थिति के निकट पहुँच जाता है— अर्थात् उसके अध्यवसाय लोभ, कपट, इत्यादि दुर्गुणों वाले न होकर उदारता, निर्लोभता, सरलता इत्यादि सद्गुणों वाले हो जाते है, पुरुषार्थ का बल अधिकाधिक बढ़ता हुवा, ग्रंथी भेद कराता है और तत्पश्चात् प्रायः पुरुषार्थ की कर्मक्षय करने की शक्ति बढ़ती जाती है। इष्ट साधनो के उपयोग करने की सामर्थ्य बढ़ती जाती है और वह क्रमशः मोक्ष के निकट आता जाता है।

श्रद्धावंत उपदेश सुनने में प्रेम रखने वाले महान् पुरुषो के गुणानुरागी धर्मानुष्ठानों में महान् पराक्रम करने वाले तथा शक्ति अनुसार धर्म प्रवृत्ति करने वाले भव्यात्मा ये सब मार्गानुसारी हैं—मोक्षपथगामी है।

योग-मोक्षमार्ग

उचित आचरण युक्त श्रावक श्राविका, साधु साध्वी के व्रतो का पालन करना, जीव अजीव आदि तत्त्वों का चिंतन करना, मैत्री आदि भावनाओं के महत्व को समझना यह अध्यात्म योग है। इस योग से ज्ञानावरणादि कर्मो का क्षय होता है, आत्मशक्ति को घात करने वाले कारण दूर होते है

मन में समाधि–शान्ति प्रकट होती है, दुष्ट संकल्प विकल्प दूर होते हैं, और अमृत समान ज्ञानादि का सत्य अनुभव प्रगट होता है।

अध्यात्म योग के बार-बार अभ्यास से अनुक्रम से योग भाव की वृद्धि होकर उत्तम मन की स्थिरतायुक्त भावना योग प्रगट होता है। इस भावना के अभ्यास से अशुभ भावना नष्ट होती है, शुभ भावना के अभ्यास की अनुकूलता प्रगट होती हैं और मन में शुद्ध परिणामों की वृद्धि होती है।

उत्तम भावना युक्त वीतराग परमात्मा को चित्त में ध्येय मानकर रहना ध्यान कहलाता है। इससे जगत् के सब भाव मन के वश में होकर स्थिरता होती है आत्मा में सूर्योदय के समान तेज प्रगट हो जाता है।

अज्ञान के कारण वस्तुओं में जो इष्ट व अनिष्ट की कल्पना होती है वह सम्यग्ज्ञान के बल से दूर होकर समभाववृत्ति समता प्रगट होती है।

समता भाववाला ऋद्धि सिद्धि की ओर प्रवृत्ति नहीं करता, सूक्ष्म कर्म का नाश करता है और अन्य कर्मों की परम्परा का भी नाश करता है।

यह आत्मा मन की चंचलता रहित होकर स्थिर और स्वयंभूरमण समुद्र की भाँति गंभीर, अनादिकाल से अन्य पुद्गल भावना के सम्बन्ध से जो रागद्वेष के परिणाम से मन में संकल्प विकल्प रूप चंचलता होती है और शरीर और इन्द्रियों में अस्थिरता होती है उसे रोकने से क्लिष्ट वृत्ति-घोर कुवृत्ति का नाश होता है, यह वृत्ति संक्षय कहलाता है।

। उसके
ग स्वीकार
होती है।
से जन्मांध
तरह अज्ञ

जो जानने

योग का
। तो शास्त्र
जो विद्वान
ऊपर लिखी
शास्त्र भी

इस वृत्ति संक्षय से केवलज्ञान प्राप्त होता है। उसके पश्चात् सर्व क्रिया अर्थात् योग निरोध रूप शैलशोकरण स्वीकार कर बाधारहित सदा आनन्ददायी मोक्ष को प्राप्ति होती है।

मोक्ष अवस्था का आनन्द अवर्णनोय है। जैसे जन्मांध मनुष्य रूपी वस्तु को नही जान सकता, उसी तरह अज्ञ पुरुष मोक्ष के सुख को नहीं जान सकता।

वास्तविक विद्वता वही है जिससे आत्मा की जो जानने और विचारने की शक्ति है वह शुद्ध हो सके।

विद्वता का श्रेष्ठ फल, सद्ज्ञान, चारित्र योग का अभ्यास करना ही है। यदि यह फल प्राप्त न हो तो शास्त्र भी एक प्रकार से संसार ही है। जिस प्रकार जो विद्वान नहीं उनके पुत्र, स्त्री आदि संसार हैं, वैसे ही ऊपर लिखी फल प्राप्ति के अभ्यास न करनेवाले के लिए शास्त्र भी संसार ही है उनका और कोई महत्व नहीं।

——

उपसंहार

शास्त्रों में मोक्ष के साधनों को योग कहा गया है। इस काल में मोक्ष की प्राप्ति नही मानी जाती, इसलिये योग को उपेक्षा को दृष्टि से देखा जाता है। योग का सम्वन्ध भी त्यागियों, सन्यासियों और बाबा लोगों से ही माना जाता है। साधारण मनुष्य के लिये तो वह निरर्थक चीज मानी जाती है। धार्मिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में सामायिक प्रतिक्रमण की पाटियां कठस्थ करादी जाती है, नवतत्त्व, जीव विचार और कर्म प्रकृतियां रटा दी जाती है, छोटे-छोटे बालकों से उपवास अट्ठाई आदि तपस्याएं कराकर पत्र पत्रिकाओं में उनके और पच्चक्खाण करानेवाले धर्मगुरुओं की कीर्ति के लिये फोटो प्रकाशित हो जाते है पर यह नहीं वताया जाता कि योग से इनका कुछ सम्वन्ध है या नहीं। इसीलिये ये सब केवल प्राणहीन जड़ प्रथाएं वन गई है और न तो जीवन पर सुप्रभाव डालती है और न आज नई पीढ़ी में धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न कराती है।

श्री हेमचन्द्राचार्य ने राजा कुमारपाल के लिये योगशास्त्र लिखा तो क्या साधारण गृहस्थ योग शास्त्र के ज्ञान का पात्र नहीं ? श्री हरिभद्रसूरि ने योग दृष्टि के आठ भेद किये हैं

जिनमें पहली चार दृष्टियों का सम्बन्ध तो मिथ्यात्वियों से ही है तो क्या जैन गृहस्थ जो अपने आपको समकिती मानते हैं, चाहे यह मान्यता निराधार ही हो, उनके लिये योग का अध्ययन आवश्यक नहीं ?

इसके सिवाय धर्म को समझाने के, उपदेश देने के ढंग भी समयानुकूल नहीं। इसलिये धर्म एक अलग ही वस्तु मानी जाने लगी है जिसका गृहस्थ जीवन से इतना ही सम्बन्ध है कि थोड़ी देर अमुक स्थान पर बैठ कर अमुक क्रिया करली जावे। इन बातों ने धर्म को एक महत्वहीन वस्तु, ऊपर से ओढ़ लेने का वस्त्र बना दिया गया है।

योग मोक्ष का मार्ग है इसका यह मतलब नही कि मोक्ष के पास पहुँचने पर ही इसका उपयोग है, या इस काल में मोक्ष अशक्य होने से योग अनुपयोगी है। किन्तु यह बात इस तरह समझाई जाय तो आसानी से समझी जा सकती है कि मनुष्य किसी भी स्थिति में क्यों न हो, योग उसको सुख का, सच्चे सुख और शान्ति का मार्ग बतलाता है जो कि उसे इसी जीवन में मिल सकता है और पुरुषार्थ द्वारा बढ़ते बढ़ते अन्त मे पूर्ण शुद्ध सुख मोक्ष सुख प्राप्त करा सकता है।

योग बिन्दु में श्री हरिभद्रसूरि ने इस सुख प्राप्ति के पांच उपाय बताये है। उनका यहाँ सक्षेप में वर्णन किया जाता है।

१. अध्यात्म योग—मनुष्य को उचित है कि वह अपने चारों ओर देखे और अनुभव प्राप्त करे कि संसार में

मनुष्य स्वभाव कैसा है और उसे क्या करना चाहिये जिससे उसका जीवन सफल हो और वह सुख शान्ति से जीये और भविष्य जीवन के सुखों व शान्ति पूर्ण जीवन की भी नीव डाले। वह अपने चारों ओर देखेगा तो उसे पता लगेगा कि इस दुनियाँ में जो दुःख, अशान्ति, युद्ध और विनाश भय है, उसका कारण मनुष्य ही है। दुनियाँ की जनता की अधिकांश संख्या इन्द्रिय सुख और उसके साधन धन और सत्ता के पीछे इतनी अंधी हो गयी है कि उचित अनुचित, न्याय अन्याय नीति अनीति का विवेक ही भूल गई है। ऐसे ही आचरण से समाज में असमानताएं और विषमताएं उत्पन्न होकर विरोध. संघर्ष वैमनस्य, कटुता, स्वार्थांधता पैदा होती है और जब ये रोग विशाल क्षेत्र में फैल जाते है तो महायुद्ध और विनाश की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि इन्द्रिय भोग और धन और सत्ता की इच्छा को मर्यादित करने, नियंत्रित करने का सदा अभ्यास करता रहे। यही अध्यात्म योग है।

२. भावना योग—चारों ओर देखने और चिन्तन करने से उसे यह भी अनुभव होगा कि केवल आत्मा के सिवाय संसार में सब वस्तुएं अस्थाई है, वे सदा नही रहेंगी, उनका नाश भी हो जायगा। यदि ऐसा अच्छी तरह समझ लिया जाय तो उनके नाश होने पर दुःख नही होगा या कम होगा और दुःख के कारण अपने सत्य मार्ग से, अपने कर्तव्य पालन से विमुख होकर अपनी हानि नहीं होने देगा। वह अपने कार्य में चाहे वह उदरपूर्ति का हो या परोपकार का, किसी भी प्रकार की बाधा नहीं आने देगा।

अनुभव यह भी सिखायेगा कि प्रत्येक व्यक्ति का भविष्य स्वयं उसी के हाथ में है, स्वयं के पुरुषार्थ पर निर्भर है, वह भविष्य चाहे इसी जीवन में गृहस्थ जीवन से संबंधित हो चाहे परलोक से। कोई ऐसी शक्ति नही सिवाय स्वयं के पुरुषार्थ के जिसके भरोसे तुम बैठे रहो, इतना ही नही किन्तु जो भी अच्छा या बुरा कार्य तुम करोगे, प्रकृति के नियम के अनुसार उसका फल तुम्हे स्वयं को भोगना पड़ेगा इसलिये तुम अपने जीवन में सावधान रहो जिससे तुम्हारा भविष्य न बिगड़े। तुम्हें सुख चाहिए तो चारों ओर सुख का वातावरण पैदा करो अर्थात् ऐसे कार्यो से बचने का अभ्यास करो जिससे किसी का अहित होकर बुरा वातावरण न बने। यह भी समझलो कि यदि तुम अपना जीवन नियंत्रित कर लोगे तो तुम्हारे सद्गुणों का विकास होगा और वे अधिकाधिक विकसित होकर तुम्हारे सुख की वृद्धि करते करते तुम्हें मोक्ष तक पहुँचा दें। वह अभ्यास तुम्हारी बुरी आदतों को भी बदल देगा। तुम्हें अपनी गलतियों पर पश्चाताप होगा जिससे उन्हें पुनः न करने का तुम संकल्प करोगे। और बुराई के बीज नष्ट होकर तुम्हें अन्तिम ध्येय पर पहुंचने में बाधक नहीं बनेंगे। ज्यों-ज्यों तुम्हारा चित्त निर्मल निर्मलतम होता जायगा तुम्हारे सुख में वृद्धि होती जायगी।

यह भी ध्यान में रखो कि गुण प्राप्ति आसान बात नहीं है। अपनी कमजोरी संसार का वातावरण सदा तुम्हें पतन की ओर ढकेलता रहेगा और तुम्हारा यह जीवन और

रलोक दोनों को बिगाड़ते रहेंगे। इसलिये सदा सावधान हो। संसार जैसा है वैसा रहेगा, तुम्हारे लिये वह बदलेगा हीं। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए जीवन पथ पर द्पुरुषार्थ पूर्वक चलते रहो जिससे तुम और तुम्हारा कुटुम्ब ो सद्मार्ग पर चलकर सुखी बने ही पर तुम्हारा परलोक ी सुधरे। तुम यदि इस लोक में अपने जीवन को नही सुधार कोगे तो परलोक की आशा व्यर्थ है।

चारों ओर सुख का वातावरण चाहते हो तो मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ भाव का अभ्यास करो।

३. ध्यानयोग—किसी भी कार्य में सफल होने के लिये एकाग्रता आवश्यक है। जिसके मन में एकाग्रता नही है और उच्छृंखलता है और संकल्प विकल्प उठते रहते है तो उसे किसी भी कार्य में सफलता नही मिल सकती। जीवन में सफलता सुख शान्ति चाहनेवाले के लिये पहले अपने लिये उच्च आदर्श स्थिर कर लेना चाहिये और फिर एकाग्रता से उस ओर चलते रहना चाहिये। यही ध्यान योग का महत्व है। पहले संकल्प विकल्पों पर काबू पाने के लिये, मन में जो अशान्ति पैदा करे, आदर्श से विमुख करे ऐसे भावों को छोड़ने का अभ्यास करना चाहिये। ऐसे विचार ही आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान कहलाते है। फिर उन उच्चादर्शो की ओर प्रेरित करे, चित्त को शान्ति प्रदान करे ऐसे विचारों की ओर चित्त को लगाना चाहिये, केन्द्रित करना चाहिये। अध्यात्म योग और भावना योग इसमें सहायक होंगे।

यह धर्म ध्यान है। जब अभ्यास करते करते मनुष्य में इतने परोपकार और जगकल्याण के भाव दृढ़ हो जावे कि स्वार्थ का लेश भी न रहे, यहां तक कि निज के शरीर का ममत्व भी छूट जाये उस समय की विचारधारा शुक्ल ध्यान कहलाती है। इस प्रकार ध्यान मनुष्य की हर स्थिति मे सफलता, आनन्द सुख शान्ति प्राप्त कराने का मार्ग है जिस पर अपनी अपनी सामर्थ्य और परिस्थिति के अनुसार चला जा सकता है।

४. **समतायोग**—संसार में सुख दुःख का जोडा है, अनुकूलताएं प्रतिकूलताएं सदा सामने आती रहती हैं। जीवन में अनेक समस्याएं खड़ी होती रहती है। ऐसी दशा में वे ही सफलता प्राप्त कर सकते है जो इनके आगे कर्त्तव्य विमूढ़ न हो जाय किन्तु उनका दृढता से सामना करें। वे न तो प्रतिकूलताओं से घबरावे और न अनुकूलताओ से बैभान हो जावे। यह गुण समभाव—सदा शान्त भाव, समता कहलाता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसका बड़ा महत्व है। धन्धे मे, रोग में, शोक में, कोई भी स्थिति हो समता मनुष्य को आगे बढ़ाती है। जब इसका अभ्यास बहुत ऊंची स्थिति पर पहुँच जाता है और उसकी स्थिती ऐसी हो जाती है, कि 'मान अपमान समगणे समगणे कनक पाषाण' तो उसके चित्त का आनन्द का तो कहना हो क्या। पर वह स्थिति बातों से नही आती कठोर पुरुषार्थ मांगती है। महान् आत्मबल मांगती है। यह क्षमता कायर की समता नहीं है जो बस न चलने के कारण चुपचाप बैठा रहे। इस प्रकार

यह क्या गृहस्थ के और क्या त्यागियों के अपने-अपने क्षेत्र में महान् उपयोगी है।

५. वृत्ति संक्षय योग—यह मन, वचन, काया की प्रवृत्तियों को उदात्त न होने देना और उसको नियंत्रण में रखने का अभ्यास है। यह अभ्यास भी मनुष्य को चाहे वह गृहस्थ हो, चाहे त्यागी, सफलता और चित्त की शांति में सहायता देता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक योग अगले योग में सहायक है और प्रत्येक योग का उससे पहले योग की अपेक्षा महत्व अधिक है।

हम विचार करें तो इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि संसार में कुप्रवृत्तियों को रोकने की जितनी शक्ति इन योगों में है वह न दण्ड विधानों में है और न समाजवाद और साम्यवाद के संघर्षो और आन्दोलनों में है। यदि संसार के वातावरण में इन योगों की छाया भी उत्पन्न हो जाय तो संसार में क्लेश और अशान्ति की गुंजाइश ही नहीं रहेगी। भारत की प्राचीन संस्कृति के ये ही आधार थे, ये ही त्याग-संयम प्रधान सभ्यता संस्कृति की जड़ है, अहिंसा, संयम, तप का आधार है। ये योग गृहस्थ को भी अपने जीवन यात्रा में बाधा नहीं देते हैं। किन्तु उसे शान्त, सफल, सर्वप्रिय बनाते हैं और सहयोग का वातावरण पैदा करते हैं। ये धर्म को अफीम की पुड़िया न बनाकर अमृत घूंट बनाते हैं जो प्रत्येक व्यक्ति का चाहे वह कोई भी हो कल्याण करते हैं।

यह योग मार्ग—सुख सफलता का मार्ग उनके लिये है

जिनमें मनुष्यत्व है। जिनमें पशुत्व है वे पहले पशुत्व छोड़े मनुष्यत्व के गुण उपार्जन करें तब इस मार्ग पर चलने योग्य हो सकते है तथा इस मार्ग पर चलने का अर्थ है क्रम से अपने सद्गुण वढ़ाना और दुर्गुणों को छोडना। एक एक कक्षा की योग्यता प्राप्त करके ही आगे की कक्षा में मनुष्य जा सकता है। आगे के प्रकरणो में यही दिखलाया गया है कि किन-किन गुणों को प्राप्त करने पर वह श्रावक व्रत लेने का अधिकारी होता हे और कब साघु व्रत का। आज की जो अनियंत्रित धार्मिक अनुष्ठानों, व्रतों, आलोचनाओं दीक्षा इत्यादि की प्रथायें है वे महान पूर्वाचार्यो के मंतव्यों के विरुद्ध हैं और धार्मिक अनुष्ठानों के लिये ऋद्धि सिद्धि, धन, लक्ष्मी, स्वर्ग आदि का लोभ देना धर्म को अफीम की पुड़िया बनाकर मनुष्य को वेसुध और धर्म से दूर फंक देना है।

———

परिशिष्ट १

आत्मा की अवस्थायें

मोक्ष यानि आध्यात्मिक विकास की पूर्णता। ऐसी पूर्णता अचानक प्राप्त नहीं हो सकती, उसे प्राप्त करने में अमुक समय व्यतीत करना पड़ता है। इसलिये मोक्ष की प्राप्ति के लिये आध्यात्मिक उत्क्रांति का क्रम मानना पड़ता है। तत्त्व जिज्ञासुओं के हृदय में स्वाभाविक रूप से ऐसा प्रश्न उठता है कि इस आध्यात्मिक उत्क्रान्ति का क्रम कैसा है।

आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के क्रम के विचार के साथ ही उसके आरम्भ तथा समाप्ति का विचार आता है। उसका आरम्भ उसकी पूर्व सीमा और उसकी समाप्ति उसकी उत्तर सीमा है। पूर्व सीमा से लेकर उत्तर सीमा तक का विकास का वृद्धि क्रम ही आध्यात्मिक उत्क्रान्ति की मर्यादा है। उसके पूर्व की स्थिति आध्यात्मिक अविकास अथवा प्राथमिक संसार दशा है और उसके बाद की स्थिति मोक्ष अथवा आध्यात्मिक विकास क्रम की पूर्णता है। इस प्रकार काल की दृष्टि से संक्षेप में आत्मा की अवस्था तीन भागों मे विभक्त की जाती है!—(अ) आध्यात्मिक अविकास (ब) आध्यात्मिक विकास क्रम (स) मोक्ष।

(अ) आत्मा स्थायी सुख और पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहती है तथा दुःख एवं अज्ञान उसे तनिक भी पसन्द नहीं, फिर भी वह दुःख और अज्ञान के भंवर में पड़ी हुई है इसका क्या कारण है, यह एक गूढ प्रश्न है। परन्तु इसका उत्तर तत्त्वज्ञों को प्राप्त हुआ है। वह यह कि सुख एवं ज्ञान प्राप्त करने की स्वाभाविक वृत्ति के कारण आत्मा का पूर्णानन्द और पूर्ण ज्ञानमय स्वरूप सिद्ध होता है, क्योंकि पूर्णानन्द और पूर्णज्ञान जब तक प्राप्त न करे तब तक वह संतोष प्राप्त नहीं कर सकती, और फिर भी उस पर अज्ञान और राग द्वेष के ऐसे प्रबल संस्कार जमे हुये है कि उनके कारण उसे सच्चे सुख का भान नहीं हो सकता, और कुछ भान होता है तब भी सच्चे सुख की प्राप्ति के लिये प्रवृत्ति नहीं कर सकता। अज्ञान चेतना के स्फुरण का विरोधी तत्त्व है। अतः जब तक अज्ञान की तीव्रता होती है तब तक चेतना स्फुरण अत्यन्त मंद होता है। उसकी वजह से सच्चे सुख और सच्चे सुख के साधन का भास नहीं होने पाता। इस कारण आत्मा स्वयं एक विषय में सुख पाने की धारणा से प्रवृत्ति करती है और उसमे निराश होने पर दूसरे विषय की ओर दौड़ती है। इस प्रकार उसकी स्थिति भंवर में पड़ी लकड़ी जैसी अथवा आंधी से उड़ते तिनके जैसी होती है। ऐसी कष्ट परम्परा का अनुभव करते करते थोड़ासा अज्ञान दूर होता है, तब भी राग द्वेष की तीव्रता के कारण सुख की सही दिशा में प्रयाण नहीं होता। अज्ञान की कुछ मन्दता से बहुत बार ऐसा भान होता है कि सुख और दुःख

के बीज बाह्य जगत् में नहीं हैं, फिर भी राग द्वेष की तीव्रता के परिणाम स्वरूप पूर्व परिचित विषयों को ही सुख और दुःख के साधन मानकर उनमें हर्ष एवं विषाद का अनुभव हुआ करता है। यह स्थिति निश्चित लक्ष्यहीन होने से दिशा को सुनिश्चय किये बिना जहाज चलानेवाले मांझी को स्थिति जैसी होती है। यह स्थिति आध्यात्मिक अविकास काल की है।

(ब) अज्ञान एवं राग द्वेष के चक्र का बल भी सर्वदा जैसा का तैसा नही रह सकता, क्योंकि वह बल चाहे कितना ही प्रबल क्यों न हो, तब भी आखिरकार आध्यात्मिक बल के सामने तो नगण्य है। लाखों मन घास और लकड़ी को जलाने के लिये उतनी ही आग की आवश्यकता नहीं होती; उसके लिये तो आग की एक चिनगारी ही काफी है। शुभ मात्रा में थोडा हो तब भी लाखों गुना अशुभ की अपेक्षा अधिक बलवान होता है। जब आत्मा में चेतनता का स्फुरण कुछ बढता है और राग द्वेष के साथ होने वाले आत्मा के युद्ध मे जब राग द्वेष की शक्ति कम होती है तो आत्मा का वीर्य, जो अब तक उलटी दिशा में कार्य करता था, सही दिशा मे मुड़ता है। उसी समय आत्मा अपने ध्येय का निश्चय करके उसे प्राप्त करने का दृढ निश्चय करती है और उसके लिये प्रवृत्ति करने लगती है और उस समय आध्यात्मिक विकास प्रारम्भ होता है। इसके पश्चात् आत्मा अपने ज्ञान एवं वीर्य शक्ति की सहायता लेकर अज्ञान और राग द्वेष के साथ कुश्ती लड़ने के लिये अखाड़े में उतरती है।

वह कभी हारती भी है, परन्तु अन्त में उस हार के परिणाम स्वरूप बढ़ी हुई ज्ञान एव वीर्य शक्ति को लेकर हरानेवाले अज्ञान और राग द्वेष को दबाती जाती है। जैसे-जैसे वह दबाती है वैसे-वैसे उसका उत्साह बढ़ता है। उत्साह वृद्धि के साथ ही एक अपूर्व आनन्द की लहर बहने लगती है। इस आनन्द की लहर में आनखशिख डूबी आत्मा अज्ञान एवं राग द्वेष के चक्र को अधिकाधिक निर्बल करती हुई अपनी सहज स्थिति की ओर आगे बढती जाती है। यह स्थिति आध्यात्मिक विकास क्रम की है।

(स) इस स्थिति की अन्तिम मर्यादा ही विकास की पूर्णता है। इस पूर्णता के प्राप्त होने पर संसार के परे-स्थिति प्राप्त होती है। उसमें केवल स्वाभाविक आनन्द का ही साम्राज्य होता है। वह है मोक्षकाल।

—पं० सुखलालजी कृत
जैन धर्म का प्राण।

——

परिशिष्ट २

योग

योग अर्थात् जिससे मोक्ष प्राप्त हो वैसा धर्म व्यापार। अनादि काल चक्र में जब तक आत्मा की प्रवृत्ति स्वरूप-पाराङ्मुख होने से लक्ष्य भ्रष्ट होती है, उस समय तक की उसकी सारी क्रिया शुभाशय से रहित होने से योग कोटि में नही आती। जब से उसकी प्रवृत्ति बदलकर स्वरूपोन्मुख होती है तभी उसकी क्रिया में शुभाशय का तत्त्व दाखिल होता है। वैसा शुभाशय वाला व्यापार धर्म व्यापार कहलाता है, और फलतः मोक्ष जनक होने से यह योग के नाम का पात्र बनता है। इस प्रकार आत्मा के अनादि ससार काल के दो भाग हो जाते हैं; एक अधार्मिक दूसरा धार्मिक। अधार्मिक काल में धर्म की प्रवृत्ति हो तब भी वह धर्म के लिये नही होती, केवल लोक पक्ति (लोकरंजन) के लिये होती है। अतएव वैसी प्रवृत्ति धर्म कोटि में गिनने योग्य नही है। धर्म के लिये धर्म की प्रवृत्ति धार्मिक काल से ही शुरू होती है। इसके लिये वैसी प्रवृत्ति योग कहलाती है। योग के उन्होंने (श्री हरिभद्रसूरि ने) अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्ति संक्षय ये पांच भाग किये है।

(१) जब थोड़े या अधिक त्याग के साथ शास्त्रीय तत्त्व चिन्तन होता है और मैत्री, करुणा आदि भावनाएं विशेष सिद्ध हो जाती है, तब वह स्थिति अध्यात्म कहलाती है।

(२) जब मन समाधि पूर्वक सतत अभ्यास करने से अध्यात्म द्वारा सविशेष पुष्ट होता है तब उसे भावना कहते हैं। भावना से अशुभ अभ्यास दूर होता है, शुभ अभ्यास की अनुकूलता बढ़ती है और सुन्दर चित्त की वृद्धि होती है।

(३) जब चित्त केवल शुभ विषय का ही अवलम्बन लेता है और उससे स्थिर दीपक के जैसा प्रकाशमान हो वह सूक्ष्म बोधवाला बन जाता है, तब उसे ध्यान कहते हैं। ध्यान से चित्त प्रत्येक कार्य में आत्माधीन होता है, भाव निश्चल होता है और बन्धनों का विच्छेद होता है।

(४) अज्ञान के कारण इष्ट-अनिष्ट रूप से कल्पित वस्तुओं में से जब विवेक के द्वारा इष्ट-अनिष्ट की भावना नष्ट हो जाती है तब वैसी स्थिति समता कहलाती है।

(५) वासना के सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाली प्रवृत्तियों का निर्मूल निरोध वृत्ति संक्षय है।

—पं० सुखलालजी कृत
जैन धर्म का प्राण

आचार्य श्री हेमचन्द्राचार्य कृत

तथा

श्री खुशालदास जगजीवनदास न्यायतीर्थ

द्वारा सम्पादित

योग शास्त्र

पर आधारित

o

योग

अर्थात् आत्मा के विकास का मार्ग

भूमिका

इस ससार में अनादिकाल से विचारको की दो परम्पराएं चली आई है। एक जडवादी अर्थात् भौतिक और दूसरी आत्मवादी अर्थात् आध्यात्मिक। दोनों ने ही इस चराचर विश्व को समझने की कोशिश की है और विश्व दर्शन कर विश्व की स्थिति देखकर सुख सम्वन्धी अपने अपने सामान्य सिद्धातो की प्ररूपणा की है कि सर्व प्राणियो मे अपनी अपनी प्रिय वस्तु की प्राप्ति के लिये और अप्रिय वस्तु को दूर करने के लिये रुचि और प्रकृति देखने में आती है तथा सुख, शान्ति और अनुकूलता सबको प्रिय और दुख, अशान्ति और प्रतिकूलता सवको अप्रिय है।

परन्तु सुख की कल्पना और व्यवस्था दोनों परम्पराओं में भेद है। भौतिक परम्परा के अनुसार इन्द्रिय सुख ही सच्चा सुख है। उसे प्राप्त करने के प्रयत्नो में न तो नीति-अनीति के विचारों की आवश्यकता है और न पाप-पुण्य के विचारों की। आध्यात्मिक परम्परा के अनुयायियों का आदर्श ऐहिक सुख नही किन्तु उनका ध्येय तो आत्मा का पूर्ण विकास है। उस पूर्ण विकास के सुख के सामने ऐहिक सुख बहुत गौण है।

इसलिये वे ऐहिक सुख का प्रयत्न करते हुए भी, उनकी प्राप्ति मे हिंसा, असत्य, चोरी अथवा धोखेवाजी, दम्भ अथवा दानवता जैसे दुर्गुणों का सेवन नहीं करते है। उनका ध्येय तो राग, द्वेप, मोह का त्याग कर समभाव प्राप्त कर आत्मा के पूर्ण विकास को साधना करना है।

अव यह देखना है कि इन सुखों की दोनों कल्पनाओं में कौनसी विशेष आदरणीय है। सामान्यतया मनुष्य और मनुष्यतर सव प्राणी मुख्यत: इन्द्रिय सुख की ओर गौण रूप से आत्मिक सुख की चेष्टा करते दीखते है। परन्तु मनुष्य, प्राणी जगत् में श्रेष्ठ प्राणी है। उसमे विचार करने, मनन करने को, योजनाएं वनाने की, संगठन वल खड़ा करने की तथा दूसरो का निज हित के लिए उपयोग करने की अद्वितीय शक्ति और कला है। इसीसे उसने साम्राज्यवाद, लोकशासन वाद अथवा समाजवाद जैसे इंद्रिय सुखदायी भवन खड़े किये। इन सवका उद्देश्य अधिक से अधिक संख्या में मनुष्यों को अधिक मे अधिक सुख मिले, यही रहा है। इनमें से समाज-वाद तो सामूहिक सुख को अपेक्षा व्यक्तिगत सुख को वहुत कम महत्व का मानता है, क्योंकि उसका उद्देश्य आर्थिक असमानता दूर करना है। उसका मानना है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे के जितना ही सुख प्राप्ति का अधिकार है। इसलिये शासन को चाहिये कि सवको ऐसी छूट दे। अर्थात् उसका उद्देश्य व्यक्तिगत लाभ की अधिक मात्रा को वढ़ाना ही है। यद्यपि यह आध्यात्मवादियों के "वसुधैव

कुटुम्बकम्" सिद्धांत जैसा ही लगता है पर वास्तव में वह इन्द्रिय सुख पर आधारित स्वार्थमूलक ही है, इसके व्यापक प्रचार के लिए उसके उपाय बहुविनाशक भी हो सकते है। मनुष्य समाज में ही ऐसे विचार उत्पन्न हुए जिन्होंने अनुमान किया कि सुख आसानी से नही मिलता, सुख और विलास के लिए अनेक साधन आवश्यक है जिनके जुटाने मे मनुष्य जीवन का बड़ा भाग बीत जाता है, उस पर भी उसकी प्राप्ति अनिश्चित रहती है। तथा वह साधन सबके लिए एक ही प्रकार के होने के कारण उनकी प्राप्ति के लिये अनेक प्रबन्धं, अन्याय और युद्ध जैसे अत्याचार करने पडते है और इसी प्रयत्न में जीवन बीत जाता है और सुख का भोग मिले विना यह अधूरा ही रह जाता है। उस विचारक की दृष्टि के सामने प्राचीन काल के अनेक महासंहार नाचने लगते है। इन्द्रिय सुख भोग के लिये ये सब चेष्टाए पूर्ण सुख नहीं भोगने देती और यदि कुछ अंश में भोगने देती है तो वह भी दूसरे के सुख मे बाधक बन कर ही भोगने देती है। और यह इच्छा अधिकाधिक सुख की तृष्णा उत्पन्न कर ईर्ष्या उत्पन्न करती है। अर्थात् इस सुख इच्छा के मूल में ही राग, द्वेष, लोभ, मोह और उनसे उत्पन्न झंझट ही है। साथ ही वे विचार करने लगते हैं कि इन मूल बातों को दूर करने के क्या परिणाम होते है तथा वे ऐसे ही प्रयास-अन्वेषण (Experiment) करते हैं।

इन अन्वेषणों में पहला ही आक्रमण इन्द्रियो के भोग पर करते है जिससे उनको परेशानियां, अपने आप अदृश्य

होती दिखाई देती है। असत्य, चोरी अथवा हिंसा द्वारा एकत्रित किए वैभव के साधना का संग्रह निकम्मा लगने लगता है तथा पारस्परिक द्वेष, ईर्ष्या, दगा, अन्याय इत्यादि असामाजिक गुण भी अदृश्य होने लग जाते है। परिणामस्वरूप संतोष, सेवा, सदाचार तथा प्रेम जैसे सद्गुणो का समाज में प्रवेश होता है और सर्वत्र शान्ति की लहरे लहराने लगती है।

इन्द्रिय संयम का दूसरा परिणाम यह होता है कि उनका शरीर सुदृढ बनता है, मन स्वस्थ होता है और ऐसी मन मे स्फुरणा होती है कि इन्द्रियो और मन का अंकुश रखनेवाला कोई स्वतंत्र तत्त्व होना चाहिए। ऐसा विचार करते हुए उन्हें ज्ञान और आनन्द रूप 'आत्मा' एक स्वतंत्र पदार्थ है ऐसा अनुभव होने लगता है और उस अगाध ज्ञान और अखूट आनन्द को लूटने के प्रयत्न भी आरम्भ कर देते है। इस संसार मे जीवन की मुसीबते कम करने के लिए वे दृश्य जगत् से अदृश्य जगत् की ओर प्रयाण करने लगते है। और परिणामस्वरूप इस दृश्य जगत की सब प्रवृत्तियो को एक तटस्थ मनुष्य की तरह करते है, उनमें किसी प्रकार की आसक्ति नही होती और उन्हें किसी प्रकार के प्रपंच भी नही करने पड़ते।

लोभ और मोह रूप साम्राज्यवाद को, राष्ट्रवाद को, समाजवाद को या इसी प्रकार के अन्य वाद को विकास करने के लिए या मनुष्यो के इन्द्रिय सुख की अधिक तृप्ति के लिए, जल, थल और आकाश मे होने वाली संहार लीला के समक्ष इन्द्रिय संयम और अनासक्त प्रवृत्तियों का कितना सुन्दर आदर्श है। एक क्षण के लिए भी यदि कोई

अन्तर मुख होकर विचार करे कि संहार का यह राक्षसी नृत्य कितना भयानक और निकम्मा है, यह तुरन्त अनुभव होने लगता है।

इन्द्रिय सुख और आत्मिक सुख में यही महान् अन्तर है। एक का आदर्श आरम्भ होता है, कैसे भी हो 'सुख से जीओ' से आरम्भ होकर' 'सुखपूर्वक जीओ और जीने दो,' इस हद तक रुक जाता है। आत्मिक सुख आरभ होता है, 'सब प्राणी सुख पूर्वक जीओ' आदर्श से 'निज की हानि होकर भी जीने दो' हद तक विकसित होता है। एक की प्रवृत्ति भगवान् महावीर के शब्दों मे राग, द्वेष, मोह मूलक है, अथवा गीता के शब्दो मे काम, क्रोध, मोह मूलक है, अथवा म० बुद्ध के शब्दों मे लोभ, द्वेप, मोह मूलक है जब कि दूसरे अर्थात् आत्मिक सुख की प्रवृत्ति उनसे विरोधी त्याग, प्रेम और ज्ञान मूलक है।

इस संक्षिप्त विवेचन से यह तो समझ में आ जाता है कि भौतिक सुख की अपेक्षा आध्यात्मिक सुख अनन्त गुणा ऊंचा और स्थाई है और इसलिये अधिक आदरणीय है। इसी कारण से महर्षि मनु ने सुख दुख को व्याख्या करते हुए कहा है कि स्वाधीनता मे सुख और पराधीनता मे दुख है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि आध्यात्मिक सुख अधिक आदरणीय है तो उसे प्राप्त किस प्रकार किया जाय? इसका उत्तर भी हमारे ऋषि मुनियों ने दिया है। जिस प्रकार पाश्चात्य विद्वानो ने आधिभौतिक सुख प्राप्ति के लिये बहुत व्यवस्थित विचार और निर्णय किये है, उसी प्रकार

आध्यात्मिक सुख प्राप्ति के लिये हमारे ऋषि मुनियों ने भी बहुत व्यवस्थित विचार और निर्णय किये है और उन निर्णयों के अनुसार उन्होंने आचरण भी किया है और वे सुख प्राप्ति में सफल भी हुये है और इस सुख की साधना के आचरण का नाम ही योग है।

आर्यावृत की तीनों ही प्राचीन परम्पराओं ने अर्थात् वैदिक, बौद्ध और जैन ने सुख की कल्पना आध्यात्मिक और एक समान बताई है। और उसका प्राप्ति के लिये तीनों ने भिन्न-भिन्न शब्दों में परन्तु एक समान ही उपाय बताये है। और वे उपाय ही 'योग' है।

योग विषयक वैदिक ग्रंथ 'पातंजल योग दर्शन' में योग की व्याख्या है, चित्त में होने वाली सब ही शुभाशुभ वृत्तियों का विरोध करना' यह वृत्ति विरोध इसलिये आवश्यक है कि उससे आत्मा में राग, द्वेष उत्पन्न होते रहते है जो कि संसार में अशान्ति फैलाते हैं और इन वृत्तियों के निरोध से समभाव उत्पन्न होता है और यही योग कहलाता है।

गीताकार कहते है कि समता से मनुष्य की अपनी प्रवृत्तियों में मिली सफलता, निष्फलता के कारण सुख दुख जनक विचार या पुण्य पाप की कल्पना स्पर्श तक नही करती हैं। समता का अर्थ ही उपेक्षा है उसमें विह्वलता या उन्माद होता ही नही। अर्थात् सब प्रवृत्ति 'अनासक्त भाव' से फल इच्छा के भाव रहीत अहंत्व, ममत्व का त्याग करके करो।

बौद्ध लोग समाधि या ध्यान शब्द का उपयोग करते हैं अर्थात् मन, वचन और शरीर को समतोल रखना। चित्त

का समाधान करना अर्थात् अकुशल मनोवृत्ति को छोड़कर कुशल मनोवृत्तियों को अंगीकार करना और अन्त में कुशल वृत्ति पर भी उपेक्षा भाव द्वारा आत्मा में स्थिर रहना। इसी को समत्व प्राप्ति कहा है।

जैन धर्म की विचार धारा भिन्न नहीं है। उसका कहना है कि अहिंसादि सनातन धर्म का सेवन, इन्द्रियों और मन पर निग्रह अर्थात् मन, वचन काया का सर्व शुभाशुभ प्रवृत्तियों का त्याग और शुद्ध प्रवृत्ति का विवेक पूर्ण आचरण मनुष्य के पूर्ण विकास के साधन है। इसलिये सब ही शुद्ध प्रवृत्तियों को योग कहते है। श्री हरिभद्रसूरि ने 'मोक्ष प्रापक धर्म आचरण' को योग कहा है और श्री हेमचन्द्राचार्य ने मोक्ष प्राप्ति के साधन सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र को योग कहा है। इस प्रकार मोक्ष प्राप्ति के साधन रूप जो विश्वास-विचार और आचरण हो वे सब योग रूप व आदर योग्य है।

योग जो एक व्यक्ति को अनुपम और शाश्वत सुख दे सकता है तो समस्त समाज, राष्ट्र और विश्व को भी अवश्य सुख दे सकता है। जो एक व्यक्ति के लिये शक्य या सत्य है वह एक समूह के लिये भी सत्य और शक्य अवश्य होता है। श्री हेमचन्द्राचार्य ने यही लक्ष्य सामने रखकर राजर्षि कुमारपाल के राज्य को तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार आध्यात्मिक भूमिका पर लाने का आदर्श प्रयत्न किया था। उन्होंने राजा और प्रजा में सदाचार और सद्प्रवृत्ति बढ़े इस उद्देश्य से मांस, मदिरा और जुआ जैसे दुर्व्यसनों का प्रजा के जीवन में से एक दम देश निकाला दिलवाया था। स्वार्थ

और लोभ कम हो इसलिये अपरिग्रह का आदर्श पाठ राजा और प्रजा के सामने रखा था। उनका उपदेश था कि प्रत्येक मनुष्य का जीवन नीतिमय और धर्ममय बना रहे, जिससे सब में संप (एकता) और प्रेम वढ़े। इसलिये उन्होंने धर्म का, नीति का, सदुपदेश का तरीका समान है ऐसा परिणाम निकाला। इसी प्रकार अनेक प्रसंगो पर उन्होने सर्व धर्मों के प्रति अपना समभाव प्रकट किया था।

ऐसे व्यापक योग की उस समय से भी आज अधिक आवश्यकता है। जिस भारत ने भूखमरी या वेकारी का कभी अनुभव नही किया था, जिस भारत को आजीविका के प्रश्न ने कभो चिन्तित नही किया था उसी भारत के सामने आज भूखमरी और वेकारो के विकट प्रश्न खड़े समाधान मांगते है। यह समाधान 'योग' के जगत् व्यापी हुए विना असम्भव है। जगत् भर मे आज लोभ का साम्राज्य छाया हुआ है। लाखो लोग लोभ ज्वर मे पीडित है मानो उन्हें यह सहारलीला पूर्णरूपेण खिलाना है। 'पारस्परिक सहायता करना' अथवा 'एक दूसरे के सहारे से जीना' यह सृष्टि क्रम और प्राणियो का स्वभाव है परन्तु स्वार्थ के अधिनायक देवता तो सृष्टि के स्वभाव से विरुद्ध काम करा रहा है। मनुष्य का सव ज्ञान विज्ञान उसको सब प्रवृत्तियां और उसकी सारी कुशलता उस देवता की खुशामदे करती दिखाई पड़ती है। ऐसा ज्ञात पड़ता है कि हिसा, झूंठ, राग, द्वेष, क्रोध, क्रूरता, कपट, विलासप्रियता जैसे असख्य दोषो के खान रूप लोभ ने अपना अभूतपूर्व, व्यवस्थित और जग-व्यापी सगठन बना रखा है।

इनके वश न होना, यही हमारा आज का कर्त्तव्य है। इनका सामना करना, यही आज अपनी मुख्य प्रवृत्ति होनी चाहिए। अपने ऋषि मुनियों द्वारा हमारी सब ही शुभाशुभ प्रवृत्तियों के कारणभूत हमारे मन का सूक्ष्म अन्वेषण किया हुआ है। उनको ऐसा जान पड़ा कि इस जग जीवन को सुखकारी और जाति के लिए सामाजिक, राजकीय अथवा आर्थिक व्यवस्था कुछ भी हो, परन्तु यदि मनुष्य के मन से राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि राक्षसी वृत्तियों के प्रति आदर और प्रेम नहीं जायगा और उनको जड़ से उखाड़ न फेकेंगे तब तक जनता उस व्यवस्था के साधनों का उपयोग उन वृत्तियो के विकास के लिए ही करेगी और परिणाम स्वरूप हिसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार, छल, कपट, इत्यादि प्रकार के अन्याय और अनीति ही बढेगी। इसलिए श्री हेमचन्द्राचार्य ने कहा है कि मन को जीतो और उसमें रहे दुर्गुणो को चुन-चुन कर बाहर फेको। मन शुद्धि ही जगत् को शाश्वत सुख देने का एक मात्र उपाय है। प्रेम वैराग्य, निर्मोह, निर्लोभ, समभाव, सद्-विवेक इत्यादि के विकास में ही जगत् का कल्याण है। और इनका विकास, शुद्ध-बुद्धि से, अनासक्त भाव से अहकार और ममकार की त्याग पूर्ण प्रवृत्ति से ही सम्भव है। ऐसी प्रवृत्तियाँ ही योग कहलाती है। इस योग को व्यापक बनाने के लिये सक्षेप मे निम्न लिखित गुणो के विकास की अत्यन्त आवश्यकता है।

(१) इन्द्रियों और मन पर अनुशासन

(२) चित्त की-मन की स्थिरता

(३) विवेक की जागृति, व्यवस्था बुद्धि भेद ज्ञान अर्थात् आत्मा और अनात्मा (पुद्गल) की भिन्नता समझना ।

(४) अहंत्व, ममत्व का त्याग अर्थात् निराभिमानता ।

(५) उत्साह

(६) पूर्वाग्रह का त्याग (Open mind)

(७) कषाय त्याग

(८) सेवार्थ सदा कुछ न कुछ करते रहने की वृत्ति

[सम्पादक द्वारा लिखित भूमिका से]

श्री हेमचन्द्राचार्य के योग शास्त्र के अनुवाद से उद्धरण

मोक्ष प्राप्ति का मार्ग

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, रूप चार पुरुषार्थ में मोक्ष उत्तम है और योग उसकी प्राप्ति का कारण है। वह योग सम्यक् ज्ञान, सम्यक् श्रद्धा और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय है।

जीव, अजीव आदि तत्त्वों को सच्चे स्वरूप में संक्षेप या विस्तार रूप में जानना सम्यक् ज्ञान है। वीतराग द्वारा कहे हुए तत्त्व के विषय में रुचि-सत्य प्रतीति को सम्यक् श्रद्धा कहते है। वह दो प्रकार से उत्पन्न होती है। (१) बिना बाह्य निमित्त के अर्थात् स्वाभाविक (२) गुरु के उपदेश द्वारा।

कायिक, वाचिक, मानसिक सब पाप वृत्तियों का त्याग सम्यक् चारित्र कहलाता है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पाँच महाव्रत मोक्ष के साधन है इनका पालन करना यति धर्म, मुनिधर्म, अथवा सर्वविरति चारित्र है। इन महाव्रतों पर प्रीति रखते हुये भी उनके पालन मे अशक्त गृहस्थों का चारित्र देशविरति चारित्र है। यह महाव्रतों का अल्पांश पालन है।

व्रत पालक के प्राथमिक गुण

देश विरति चारित्र के पालन के अधिकारियों में जो गुण (लक्षण) होने चाहिए उनमें से विशेष गुण निम्न प्रकार हैं—

(१) सम्पत्ति न्याय पूर्ण उपार्जित हो।

(२) शिष्ट, उच्च चारित्री पुरुषो का वहुमान करें।

(३) समान कुलशील वालकों से विवाह सम्वन्ध करे।

(४) पाप भीरू हों। (५) पर निंदा न करे। (६) सदाचारी की संगति करें। (७) माता-पिता तथा वड़ों का विनय करें। (८) निंदनीय प्रवृत्ति न करें। (९) आर्थिक स्थिति के अनुसार व्यय करें: (१०) उच्च विचार सुनने, समझने, मनन करने इत्यादि को प्रवृत्ति हो। (११) स्वास्थ्य को हानि पहुँचे ऐसे कार्य न करे। (१२) धर्म, अर्थ, काम इनमें पारस्परिक विरोध न आवे इस प्रकार जीवनयापन करें। (१३) सत्पुरुषों, अतिथियों का सत्कार करें। (१४) पूर्वाग्रही कदाग्रही न हों। खुले हृदय वाला हो। (१५) सद्गुणों का पक्षपाती हो। (१६) देशकाल की अपेक्षा रखे। (१७) निज की स्थिति को अच्छी तरह समझे। (१८) वृत धारी, ज्ञान वृद्धों का सम्मान करें। (१९) कुटुम्बियों का, आश्रितों का पालन करें। (२०) दीर्घ-

दर्शी हो। (२१) विवेकी हो। (२२) कृतज्ञ हो। (२३) सर्व प्रिय हो। (२४) मर्यादा पालक हो। (२५) दयावान हो। (२६) परोपकार वृत्ति का हो। (२७) काम, क्रोध लोभ, मान, मद, मत्सर इन आंतरिक शत्रुओ को नाश करने को तत्पर रहे। (२८) इन्द्रियो को वश में रखे।

उपरोक्त गुणोवाला ही गृहस्थ धर्म पालन योग्य, देश-विरति बनने योग्य है। बारह व्रत लेने के इच्छुक को पहले ये योग्यताये प्राप्त करना चाहिए।

गृहस्थ के बारह व्रत—पांच अणुव्रत (१) अहिंसा निर-पराधी त्रस प्राणी का सकल्प पूर्वक हिंसा का त्याग, (२) सत्य-व्रत-असत्य या कटुवचन का त्याग, (३) अस्तेयव्रत-चोरी का त्याग, (४) ब्रह्मचर्य व्रत-स्वपुरुष/स्वस्त्री में संतोष, (५) अपरि-ग्रहव्रत सर्व पदार्थो में आसक्ति का त्याग करना। तोन गुण-व्रत उपरोक्त पांच अणुव्रतो के गुणकारक समर्थक अर्थात् अल्पता से पूर्णता की ओर ले जाने वाले है तीन गुण व्रत। (१) दिग्व्रत कार्यक्षेत्र की सीमा बांधना, (२) भोगोपभोग वस्तुओ के उपयोग को मर्यादा बाधना। (३) अनर्थ दण्ड विरमणव्रत—बिना कारण तथा अनावश्यक ऐसी प्रवृत्तियाँ जो हिसा के कारण बन जाती है उनसे दूर रहना। चार शिक्षा व्रत—अर्थात् वे नियम या व्रत जो उच्चादर्शों की प्राप्ति की शिक्षा दे। (१) सामायिक व्रत-एक निश्चित समय समता, समभाव पालन की शिक्षा। (२) देसावगासिक व्रत—एक निश्चित समय के लिए कार्य क्षेत्र सीमित करने के द्वारा प्रथम दिग्व्रत पालन की शिक्षा (३) पौषध व्रत—विशेष तिथियों में उपवासादि तप,

कुप्रवृत्तियों का त्याग, ब्रह्मचर्य का पालन इत्यादि (४) अतिथि सविभाग व्रत–अतिथि अर्थात् त्यागी साधु साध्वियों की उनकी मर्यादा के अनुसार आवश्यकता पूर्ण करना।

गुणव्रत और शिक्षाव्रत, अणुव्रत धारी को सर्वविरती-धारी बनने का मार्गदर्शक और शिक्षा देने के उद्देश्य या आशय से निर्देश किए गए हैं।

व्रत नियमों का ध्येय

मन की शुद्धि द्वारा इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करना चाहिये। मन की शुद्धि बिना यम नियम द्वारा पाया हुआ कायक्लेश निरर्थक ही है।

मन की शुद्धि, मोक्ष मार्ग दर्शक-कभी न बुझने वाला दीपक है।

मन की शुद्धि द्वारा मनुष्य में नये गुण उत्पन्न होते हैं। शुद्धि के न होने से जो गुण हैं वे भी नष्ट हो जाते हैं।

व्रत किसको फलदायक होते हैं

योगमार्ग के अनुसरण की इच्छा रखने वाले गृहस्थ को ही ऊपर लिखे १२ व्रत धारण करना चाहिये। ये सब व्रत सम्यक्त्वयुक्त गृहस्थ को ही फलदायक होते हैं अन्य को नहीं। अतः सबसे पहले साधक को सम्यक्त्व प्राप्त करना चाहिये।

यथार्थ देव (जिन्होंने राग द्वेषादि दोषों को जीत लिया है) में देवबुद्धि, यथार्थ गुरु (जो महाव्रत धारी हैं, धीर है, मात्र भिक्षा से ही निर्वाह करते हैं, जो समता में स्थित है, जो यथार्थ धर्म का उपदेश देते है) में गुरु बुद्धि और यथार्थ धर्म (सर्वज्ञ पुरुषों द्वारा उपदिष्ट संयम आदि दस प्रकार का धर्म जो दुर्गति में गिरने से प्राणी को बचाये) में अज्ञान संशय और विपर्यय विहीन शुद्ध बुद्धि का नाम सम्यक्त्व हैं।

उपसंहार

किसी भी कार्य की सफलता के लिये निम्न बाते होना आवश्यक है —(१) ध्येय का सच्चा ज्ञान (२) उस ध्येय पर तथा प्राप्त करने के मार्ग पर श्रद्धा और (३) उस मार्ग में पुरुषार्थ। इन वातो की प्राप्ति के लिये आवश्यक है—योग्यता। फिर उस योग्यता को भी क्रम भाव से बढ़ाना होता है। यह नियम संसार के प्रत्येक कार्य में लागू है चाहे वह लौकिक हो या पारलौकिक।

मनुष्य का ध्येय मोक्ष अर्थात् पूर्ण सुख प्राप्ति है। पर वह भी एकाएक प्राप्त नही हो सकता। जीवन अपने आप ही एकाएक दुःखों से पूर्ण सुखो नही हो जाता। मनुष्य को पहले उस मार्ग के लिये योग्यता, प्राप्त करना होगी और फिर क्रमवार उसे वह योग्यता बढानी होगी। यदि वह सच्चे मार्ग पर चल रहा है तो इस सफर में उसका सुख भी बढ़ता जायगा।

मोक्ष तो ससार के बाहर की वस्तु है और मनुष्य संसार का वासी है। इसलिये उसका मार्ग तो ससार में होकर ही जायगा। यदि वह सच्चे मार्ग पर चल रहा है तो जैसे जैसे वह आगे चलेगा उसकी सुख की मात्रा भी बढ़ती जायगी और तब ही तो वह पूर्ण सुख की मजिल पर पहुँचेगा। इस प्रकार मोक्ष पर पहुँचने के लिये यात्रा तो उसे संसार में ही करनी

पड़ेगी। और यही सुख की मात्रा ज्यों ज्यों वह आगे बढ़ेगा बढती जायगी। इस संसार में सुख की पहचान है चित्त की शांति। जिस सुख मे चित्त की शांति नहीं वह सुख नही, सुखाभास है।

चित्त के शातिदायक सुख के लिये अमुक योग्यता अर्थात् गुण आवश्यक है। ऐसे २८ गुणों के नाम पुस्तक में दिये गये है। इन गुणों की अवहेलना पर भी धन सम्पत्ति तो मिल सकती है पर उससे चित्त को शांतिदायक सुख नहीं मिल सकता है। वह केवल सुखाभास है जो दुःख का कारण वन जाता है। शराब के नशे में मस्त व्यक्ति गंदगी मे लेट जाता है और प्रसन्नता का अनुभव करता है तो क्या वह सुखी कहा जा सकता है ?

इसी प्रकार मनुष्य अपनी कमजोरियों का अज्ञानता के कारण या चारो ओर के वातावरण के कारण या देखा देखी, या पूर्वजन्म के संस्कारो के कारण सच्चे शांतिदायक सुख को समझने में भूल करता है या समझ कर भी किसी भी कारण से उसे प्राप्त करने का मार्ग नही अपनाता तो उसके लिये जीवन सफलता को जिसका अर्थ ही शात सुखी जीवन है आशा ही कैसे की जा सकती है ?

साराश यह कि मनुष्य को सबसे पहले उपरोक्त मूल गुणो को, जिन्हें मार्गानुसारिता भी कहते हैं, प्राप्त कर, आगे इसी जीवन में सुख बढ़ाने का प्रयास करना चाहिये। यह प्रयास ही 'योग' है। योग कोई त्यागी, सन्यासी, बाबा लोगो की पैतृक सम्पत्ति व बपौती नही है जैसा कि प्रायः समझा जाता है। और इसी कारण साधारणतया लोग उसकी

उपेक्षा करते है, उस ओर ध्यान ही नहीं देते। योग तो प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह किसी भी अवस्था में हो, धनी हो, चाहे गरीब हो, चाहे त्यागी हो, इस जन्म में तथा पुनर्जन्म मे सफलता सुख और शाति का मार्ग बताता हो जिससे वह क्रमशः पूर्ण स्थिति मोक्ष पर पहुँच सके। केवल योग्यता प्राप्त करने और पुरुषार्थ की आवश्यकता है।

इन गुणों से मनुष्य की वुद्धि का विकास होता है जिससे उसमें विवेक जागृत हो, उचित अनुचित की, हितकारी अहितकारी की पहचान हो, ससार के सुख दु:ख के कारण समझने लगे, संसार की वास्तविकता का ज्ञान हो, निराग्रहता माध्यस्थ्य भाव जागृत हो और अपने गुणो के विकास की लगन हो उनकी प्राप्ति की चेष्टा करे। उसे सम्यक्त्वी अर्थात् सत्यानुवेषी कहते है। वह अपनी योग्यता क्रमशः बढा कर प्रगति पथ पर बढने के लिये सचेष्ट रहता है। अपने चित्त की निर्मलता बढाने हेतु, अपने मन और जीवन को नियन्त्रण में लाने की चेष्टा करता है और श्रावक के बारह अणुव्रत अंगीकार करता है। इससे सुख की मात्रा बढ़ जाती है और आगे का मार्ग अधिक साफ दिखाई देने लगता है। वह प्रमादी नही है, पुरुषार्थी है इसलिये कक्षा को सफलता से पार कर आगे की कक्षा-महाव्रत धारी मुनि या साधु की योग्यता प्राप्त करने की चेष्टा करता है और फिर उस कक्षा के व्रत अंगीकार करता है और इस प्रकार अपनी कमजोरियो, दूषणो पर विजय पाता हुआ सद्गुणों का विकास करता हुआ पूर्ण आत्मशुद्धि, निर्मलता, शांति और सुख की तरफ प्रगति करता हुआ मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

चाहे इस जोवन में शांतिदायक सुख हो, चाहे मोक्ष का पूर्ण सुख हा उसका आधार जोवन शुद्धता, चित्त निर्मलता तथा माध्यस्थ्य, सता भाव पर ह, न कि वाहरी दिखावे या प्राण होन त्याग तपस्या पर ।

श्री हरिभद्रसूरि कृत

तथा

डॉ० इन्दुबाला हीराचन्द झबेरी

एम. ए., पी एच. डी

द्वारा सम्पादित

योग शतक

पर आधारित

संक्षेप संकलन

योग निश्चय दृष्टि और व्यवहार दृष्टि

निश्चय दृष्टि से सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन और सम्यग्-चारित्र ही योग अर्थात् मोक्ष से जोड़ने वाले मोक्ष पहुँचाने वाले हैं। वस्तु का यथार्थ ज्ञान सम्यक्ज्ञान है उसमें रुचि सद्दर्शन अर्थात् सम्यक्दर्शन और तदानुसार आचरण सम्यक्-चारित्र है।

व्यवहार दृष्टि से जिन कारणों से ये तीनों प्राप्त हों वह भी योग है।

इस व्यवहार योग के पालन से कालक्रम से अर्थात् उत्तरोत्तर शुद्धता से निश्चय योग प्राप्त हो जाता है।

अपने अपने अधिकार के अनुसार कार्य करने से सिद्धी मिलती है।

योग का अनाधिकारी

आत्मा के कर्म का बंधना और छूटना अनादिकाल से चालू है। जिस प्राणी में राग, द्वेष, मोह आदि का बल बहुत तीव्र होता है जिसके कारण उसका मन और उसकी रुचि मुख्यत: सासारिक भोगों-की तरफ ही रहती है वह योग मार्ग का अधिकारी नही है। ऐसे व्यक्ति को भवाभिनन्दी कहते हैं। इसके विपरीत जो आत्मा घोर पाप कर्म न करे, संसार में अधा होकर फंसा हुआ न रहे और सब कार्यों मे कौटुम्बिक,

धार्मिक, सामाजिक इत्यादि में न्याय युक्त मर्यादा का पालन करता है वह अपुनर्बन्धक कहलाता है। उसमें (अभी) आत्म दर्शन का अभाव है।

योग (प्रगति मार्ग) का अधिकारी

जिसका धर्म के प्रति प्रेम हो, धर्म सुनने समझने की जिसे इच्छा हो, धर्मतत्त्व की उत्कट जिज्ञासा हो, धर्म के प्रति आदर, मानसिक स्वस्थतापूर्वक गुणीजनों का आदर-पूजा के भाव हो, वह सम्यक्दृष्टि है। उसमे आत्मदर्शन है, पर विरति नहीं है। जो श्रद्धालु धर्मोपदेश योग्य, क्रिया तत्पर मार्गानुसारी (अर्थात् सत्मार्ग पर चलनेवाला) गुणानुरागी और शक्ति अनुसार प्रयत्नशील हो वह चारित्री है।

वह चारित्री अन्तिम वीतराग दशा प्राप्त करने तक सामायिक अर्थात् समता और शास्त्र ज्ञान जीवन में उतारता है। वह तारतम्य भाव से अनेक प्रकार का होता है।

उपरोक्त सब प्रकार के योगाधिकारी प्रवृत्ति तो करते ही है, पर कभी अनुचित कार्यो मे प्रवृत्ति नही करते; क्योंकि उनमें प्रायः कुसंस्कारों का अभाव ही होता है और उनका जीवन शुद्धतर होता जाता है।

गुरु भी उपदेश साधकों को योग्यता अर्थात् उनकी श्रेणी कक्षा के अनुसार ही देते है।

उन्नति का कक्षा क्रम

प्रथम कक्षा अर्थात् अपुनर्बन्धक को सामान्यतया लोक धर्म का उपदेश दिया जाता है, उदाहरणार्थ दूसरों का दुःख दूर करना, दीन को दान देना, विशिष्ठ पुरुषों की पूजा सत्कार आदर करना इत्यादि। इस लोक धर्म को पालन करते करते अपुनर्बन्धक में सुसंस्कार और विवेक बढते हैं और वह धीरे धीरे सम्यक्दृष्टि रूप मोक्ष मार्ग पर बढता है।

दूसरी कक्षा–सम्यक्दृष्टि की है। वह अपने स्वरूप को जानता है। आत्मा और पुद्गल (शरीर) भिन्न भिन्न है यह अच्छी तरह से जानता है। उसमें यह विवेक है, पर इस पर भी हिंसा, लोभ इत्यादि कुवासनाओं को छोड़ने मे वह असमर्थ है, छोड़ नही सकता है, उसे ऊपर उठने के लिये आगे बढने के लिये सहायक हो, इस दृष्टि से उसकी शक्ति और रुचि को ध्यान में रखते हुये गुरु उसे हिंसा, असत्य, चोरी इत्यादि दोषों और दुर्गुणो से निवृत्ति हो, ऐसे अणुव्रतों का उपदेश देता है। भोगवासना में रत जीव को एक साथ सर्वविरति का उपदेश, मुश्किल से ही रुचिकर हो सकता है इसलिये उसे पहले आँशिक विरतिधर्म—अणुव्रत धर्म का ही उपदेश दिया जाता है।

तीसरी कक्षा—इसमें वे व्यक्ति है जो कु–भोग वासनाओ से अल्पांश में ही विरत हुये हों और जिन्होंने अल्पांश में ही

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रह जैसे मौलिक व्रत धारण किये हैं, स्वीकार किये हैं—वे देशविरति नामक तीसरी कक्षा के अधिकारी हैं। ऐसे अधिकारी को सामायिक, पौषध जैसे शिक्षा व्रतों और अनर्थदंड विरमण व्रत जैसे गुण व्रतों के उपदेश दिये जाते हैं जो मौलिक पांच अणुव्रतों के पोषक हैं। ऐसे उपदेशों से वह उत्तरोत्तर ऊपर की योग भूमिका का साधक बनता है।

यह देशविरति, गृहस्थ अधिकारी है। इसे आजीविका के लिए प्रयत्न करना आवश्यक है। साथ मे ही उसे निर्दोष दान, वीतराग पूजा, विधिपूर्वक भोजन, आवश्यक कर्म-प्रतिक्रमण, चैत्यवंदन, धर्मश्रवण, साधुजन को संयम भावना में उपकारी हों ऐसे सेवारूप कार्य के उपदेश देना चाहिए। साथ में ही मैत्री, करुणा, प्रमोद और माध्यस्थ्य भावना तथा प्रसिद्ध १२ भावनाओं का उपदेश भी देना चाहिए। ये बारह भावनाये हैं :—

(१) अनित्य (२) अशरण (३) संसार (४) एकत्व (५) अन्यत्व (६) अशुचि (७) आश्रव (८) संवर (९) निर्जरा (१०) धर्म (११) लोक स्वभाव (१२) बोधिदुर्लभ।

चौथा अधिकारी सर्वविरति होता है। उसको उपदेश ऐसा हो कि वह कर्त्तव्य का यथावत जागृति पूर्वक पालन कर सके और उसका मुनिपना उत्तरोत्तर विकसित स्थिति प्राप्त करता रहे। उसे गुरु के आधीन गुरुकुल में निवास करना, विनय करना, नियमित रूप से मुनि समाचारी का

पालन करना, अपनी शक्ति को छिपाए बिना सब कार्यों में शान्तिपूर्वक प्रवर्तना और गुरु की आज्ञापालन में ही मेरा श्रेय है ऐसा चिंतन करना, त्याग में निर्दोष पूर्ण रहना, शुद्ध भिक्षा वृत्ति से शुद्ध जीवन पालन करना, शास्त्र-विधि अनुसार स्वाध्याय करना, मृत्यु आदि संकटों का सामना करने की तैयारी करना। ये सब इस श्रेणी के त्यागी अधिकारी को उपदेश देने के विषय है। साथ में जो बाते निषिद्ध है उनसे भी सावधान कर देना चाहिए।

उपदेश योग्यता अनुसार

उपदेश पात्रता और योग्यता के अनुसार ही होना चाहिए। इसके विपरीत अपात्र व अयोग्य को उपदेश देने के बहुत कड़वे फल होते हैं।

ध्यान में रखने योग्य बातें

योगी अर्थात् साधक को निज से अधिक या समान गुण वालों के साथ सदा सम्पर्क रखना और अपने गुण स्थान के योग्य क्रियाओं को याद रखकर सदा पालन करते रहना चाहिए। उत्तर गुणों का बहुमान करना, संसार के स्वरूप का अनेक प्रकार से चिंतन करना और गुणों में अरुचि हो उसे दूर करने को सावधान रहना चाहिए।

जब पापोदय होने वाला होता है तो अरति, एक प्रकार की बेचैनी उत्पन्न होती है। इस पाप कर्मोदय की पूर्व सूचना होने पर उस उदय को रोकने के लिए सद्गुरु का शरण, तप और उत्तम ग्रन्थों का स्वाध्याय करना चाहिए तथा अरिहंत, सिद्ध, साधु और धर्म का शरण स्वीकार करना, अपकृत्य हुए हों, उनकी निंदा, प्रायश्चित और सत्कृत्यों की अनुमोदना करनी चाहिए।

प्राथमिक कक्षा के योग साधकों को तो भावना अर्थात् चिंतन, तीर्थ सेवा तथा शास्त्र-श्रवण उनके अर्थ-भाव का ज्ञान प्राप्त कर उस ज्ञान की सहायता से निज के दोष निरीक्षण द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि से आत्म निरीक्षण करना चाहिए।

प्राणी मात्र के प्रति मैत्री, अधिक गुण वालों में प्रमोद-प्रसन्नता, दुखी के प्रति करुणा, और अविनीत-असाध्य के प्रति माध्यस्थ्य भाव रखना चाहिए।

उपसंहार

किसी भी कार्य करने में सफलता के लिए, कार्य करने वाले की योग्यतानुसार उपदेश आवश्यक है। तब ही वह एक श्रेणी से उसके ऊपर की श्रेणी पर और उसी तरह क्रम से चढ़ता हुआ सर्वश्रेष्ठ पदवो प्राप्त कर सकता है। यही बात धर्म साधना में लागू होती है।

जीवन का उद्देश्य सुख प्राप्ति हैं जिसकी अन्तिम श्रेणी मोक्ष है, जो पूर्ण शाश्वत सुख का स्थान है। इससे पहिले भी कई श्रेणियां है जिन्हें क्रम बार पार किए बिना अन्तिम श्रेणी पर कोई व्यक्ति नहीं पहुँच सकता तथा नीचे वाली श्रेणियों पर भी प्राथमिक योग्यतावाला प्राणी ही चढ़ सकता है।

जिसे हम सांसारिक सुख कहते हैं, वह भो क्रोधी, उद्दंडी, कपटी, मायावी ऐसे दुर्गुणों वालों को प्राप्त नहीं होता और न जब तक उसकी ऐसी प्रकृति है वह चाहे जितने धर्मानुष्ठान करे एक एक कक्षा कर-कर भी आगे नहीं बढ़ सकता।

प्रगति के लिए प्राथमिक योग्यता यह है कि व्यक्ति जीवन को न्याययुक्त मर्यादाओं से पालन करे, सद्गुणों को प्राप्त करने की रुचि रखे और प्रयास करे, गुणानुरागी और सदाचारी हो, यही इस जीवन के सुख की ओर आनेवाले

जीवन में सुख की बुनियाद है। इस योग्यता बिना, न तो वह उच्च कक्षाओं की शिक्षा पाने का अधिकारी है और न वह प्रगति कर सकता है। व्रत, नियम, तप, त्याग आदि धार्मिक क्रियाएं हैं जिनका उद्देश्य मनुष्य को प्रगति पथ पर चलने की योग्यता बढ़ाना है। ये तब ही सफल और सार्थक हैं जब उन क्रियाओं के करनेवाले में उपरोक्त प्राथमिक योग्यता हो। बिना उस योग्यता को प्राप्त किये तप, जप, तपस्या आदि क्रियाएं करता हुआ मनुष्य यदि साधु वेश धारण करले और साधु का आचार भी पालन करता रहे तब भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह अल्प सुख प्राप्ति के मार्ग पर भी है मोक्ष सुख का तो कहना ही क्या।

उपरोक्त गुण प्राप्त होने पर ही उसे ऐसी शिक्षा दी जावे जिससे वह आत्मा का महत्व समझे। शरीर और आत्मा के गुणों में, स्वभाव में क्या अन्तर है यह समझे, जीवन का अन्तिम ध्येय क्या है, कैसे प्राप्त हो सकता है, क्या बाधाएं आती है और वे कैसे दूर की जा सकती हैं यह समझे, तब वह श्रावक कक्षा के नियमों के पालन का अर्थात् श्रावक के अणुव्रत लेने का अधिकारी होता है। व्रतों का पालन करने से उसमें इस जन्म में सफलता प्राप्त करने के गुण उत्पन्न होंगे, चित्त में कुभावनाओं का बल कम होकर निर्मलता बढ़ेगी और परिणाम स्वरूप उसके सुख और शान्ति में वृद्धि होगी, इसी जन्म में उसको ये अधिक मात्रा में मिलेंगे। अगर उसने इस कक्षा की शिक्षा पूरी लगन से प्राप्त की है तो उसको रुचि और आगे बढ़ने की होगी, जिसके लिए वह अपने

चित्त की निर्मलता और बढाने की चेष्टा करेगा साधुव्रत अंगीकार करने का अधिकारी होगा और तदनुसार उपदेश का भी अधिकारी होगा। इस प्रकार शक्ति अनुसार सत्यमार्ग पर चलता हुआ राग, द्वेष, मोह के भावों को दबाता और नष्ट करता हुआ वह अंतिम वीतराग दशा प्राप्त कर शाश्वत सुख का भोक्ता बनेगा। सारभूत बात यह है कि योग्यता और क्रमिक विकास द्वारा ही उन्नति सम्भव है। यह शिक्षा गृहस्थी मे अपने योग्य कार्य में सफलता, जनप्रियता, प्रभाव, निर्भीकता, दृढ़ता आदि गुण पैदा करती है और साधुओ में आत्मबल और ऐसा व्यक्तित्व उत्पन्न करती है कि जिनके प्रभाव से वे जग कल्याण कर सके। इन गुणो के बिना किये गये तप, अनुष्ठान आत्मोन्नति के कारण नही बन सकते, किंतु केवल लौकिक व्यवहार और लोकरजनार्थ ही कहे जा सकते है।

परिशिष्ठ (१)

धर्म, तत्त्वज्ञान और संस्कृति

धर्म एवं विद्या केवल अधिक वाचन से ही प्राप्त होती हो ऐसा नही है। कम या अधिक पढ़ना रुचि, शक्ति और सुविधा का प्रश्न है, परन्तु कम पढ़ने पर भी अधिक सिद्धि एवं लाभ प्राप्त करना हो तो उसके लिए आवश्यक शर्त यह है कि मन को उन्मुक्त रखना और सत्य जिज्ञासा की सिद्धि में किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रह अथवा रूढ़ संस्कारों को बीच में आने न देना। मेरा अनुभव कहता है कि इसके लिए सबसे पहले निर्भयता की आवश्यकता है। धर्म का कोई भी सही और उपयोगी अर्थ होता हो तो वह निर्भयता के साथ सत्य की खोज। तत्त्वज्ञान सत्यशोध का एक मार्ग है। हम चाहे जिस विषय का अध्ययन करे, परन्तु उसके साथ सत्य और तत्त्वज्ञान का संबंध होता है। ये दोनों चीजें किसी भी सीमा में बद्ध नहीं होतीं। मन के सभी द्वार सत्य के लिए उन्मुक्त हों और निर्भयता उसकी पार्श्वभूमि में हो तो जो कुछ भी सोचें वह सब तत्त्वज्ञान अथवा धर्म में आ जाता है।

जीवन में से मैल और निर्बलता को दूर करना तथा उनके स्थान पर सर्वांगीण स्वच्छता एवं सामंजस्य पूर्ण बल पैदा करना ही जीवन की सच्ची सस्कृति है। यही बात

प्राचीन काल से प्रत्येक देश और जाति में धर्म के नाम से प्रसिद्ध है। सच्ची संस्कृति के बिना मानवता अथवा राष्ट्रीयता पैदा नहीं होती और वह पनपती भी नही।

१. धर्म का बीज

धर्म का बीज क्या है और उसका प्रारंभिक स्वरूप क्या है? हम सभी अनुभव करते है कि हम में जिजीविषा है। जिजीविपा के गर्भ में ही सुख की ज्ञात अज्ञात अभिलाषा अनिवार्य रूप से निहित है। जहां सुख की अभिलाषा है वहां प्रतिकूल वेदना या दुःख से बचने की वृत्ति भी अवश्य रहती है. जिजीविषा, सुखाभिलाषा और दुःख के प्रतिकार की इच्छा में ही धर्म का बीज निहित है। इस धर्म बीज का सामान्य और संक्षिप्त स्वरूप यही है कि वैयक्तिक और सामुदायिक जीवन के लिये जो अनुकूल हो उसे करना और जो प्रतिकूल हो उसे टालना या उससे बचना।

२. धर्म का ध्येय

धर्म का ध्येय क्या होना चाहिये? किस बात को धर्म के ध्येय के तौर पर सिद्धान्त मे; विचार मे और आचरण में स्थान देने से धर्म की, सफलता और जीवन की विशेष प्रगति साधी जा सकती है?

इसका जवाब यह है कि प्रत्येक व्यक्ति में अपने वैयक्तिक और सामाजिक कर्त्तव्य का ठीक-ठीक भाव, कर्त्तव्य के प्रति उत्तरदायित्व में रस और उस रस को मूर्त करके दिखलाने

जितने पुरुषार्थ की जागृति हो, इसको धर्म का ध्येय मानना चाहिए। यदि उक्त तत्त्वों को धर्म के ध्येय के रूप में स्वीकार करके उन पर भार दिया जाए तो प्रजा का जीवन समग्र भाव से पलट सकता है।

धर्म अर्थात् सत्य की प्राप्ति के लिए बेचैनी-उत्कट अभीप्सा और विवेकी समभाव तथा इन दो तत्त्वों के आधार पर निर्मित होने वाला जीवन व्यवहार यही धर्म पारमार्थिक है। दूसरे धर्म की कोटि में गिने जाने वाले विधि निषेध क्रिया काण्ड, उपासना के प्रकार आदि सब व्यवहारिक धर्म हैं। ये तब तक और उतने ही अंश में यथार्थ धर्म के नाम के पात्र हैं, जब तक और जितने अंश में ये उक्त पारमार्थिक धर्म के साथ अभेद्य वस्तु है।

३. धर्म और विचार

विचार ही धर्म का मित्र, उसका मित्र और उसकी प्रजा है। जिसमें विचार न हो उसमें धर्म की उत्पत्ति सम्भव नहीं। धर्म के जीवन और प्रसरण के साथ विचार होता ही है। जो धर्म विचारों को उद्बुद्ध न करे और उनका पोषण न करे वह अपनी आत्मा खो देता है। अतएव धर्म विषयक विचारणा की परीक्षा होती रहे तो परिणाम में वह लाभदायी ही है।

—पं० सुखलालजी द्वारा लिखित 'जैन धर्म का प्राण'

परिशिष्ट-२

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि

दृष्टि अर्थात् दर्शन का सामान्य अर्थ देखना होता है। आँख से जो जो बोध होता है उसे देखना या दर्शन कहते हैं। परंतु इस स्थान पर दृष्टि या दर्शन का अर्थ मात्र नेत्रजन्य बोध ही नहीं है, यहाँ तो उसका अर्थ अत्यंत विशाल है। किसी भो इंद्रिय से होने वाला ज्ञान यहाँ दृष्टि अथवा दर्शन से अभिप्रेत है। इतना ही नहीं, मन की सहायता के बिना यदि आत्मा को शंक्य हो तो वैसा ज्ञान भी यहाँ दृष्टि अथवा दर्शन रूप से अभिप्रेत है। सारांश यह है सम्यग्दृष्टि अर्थात् किसी भी प्रकार का सम्यक् बोध और मिथ्यादृष्टि अर्थात् प्रत्येक प्रकार का मिथ्याबोध।

देह धारण करना श्वासोच्छवास लेना, ज्ञानेंद्रियों से जानना और कर्मेन्द्रियों से काम करना-इतना ही मात्र जीवन नहीं है, परंतु मन और चेतन की भिन्न-भिन्न भूमिकाओं में सूक्ष्म और सूक्ष्मतर अनेक प्रकार के संवेदनों का अनुभव करना भी जीवन है। ऐसे व्यापक जीवन के पहलू भी अनेक हैं, इन सब पहलुओं को मार्गदर्शन कराने वाली और जीवन को चलाने वाली 'दृष्टि' है। यदि दृष्टि सही हो तो उसके

मार्गदर्शन में जीवित जीवन कलंक रहित होगा और यदि दृष्टि भ्रांत अथवा विपरीत हो तो उसके अनुसार जीवन भी कलंक युक्त होगा। अतः यह विचारना चाहिए कि सही दृष्टि क्या है और गलत दृष्टि किसे कहते हैं ?

कई शब्द इंद्रियगम्य वस्तु के द्योतक होते हैं तो कई शब्द मनोगम्य पदार्थ के ही बोधक होते हैं। जहाँ शब्द का अर्थ इंद्रियगम्य हो वहां उसके अर्थ को बोधकर्ता में संशोधन परिवर्तन करने का कार्य सरल होता है, परंतु जहाँ शब्द का अर्थ अतीन्द्रिय या मनोगम्य मात्र हो वहां अर्थ में कमी वेशी का काम बहुत कठिन होता है। सम्यग् दृष्टि और मिथ्या-दृष्टि शब्द चिड़िया या घोड़े आदि शब्दों की भांति इंद्रिय-गम्य वस्तु के द्योतक न होकर मनोगम्य अथवा अतीन्द्रिय भावों के सूचक हैं। इसलिये इन शब्दों के यथार्थ अर्थ की तरफ जाने का अथवा परम्परा से प्रथम अज्ञात अर्थ में संशोधन, परिवर्तन या परिवर्धन करने का काम बहुत कठिन होने से विवेक और प्रयत्न साध्य है।

जीवन मात्र में चेतन तत्त्व के अस्तित्व में श्रद्धा रखना और वैसी श्रद्धा के परिणाम स्वरूप चेतन पर छाये हुए अज्ञान एवं राग द्वेषादि के आवरणों को चारित्र के सम्यक् पुरुषार्थ से हटाने की शक्यता के चारित्र लक्षी तत्त्व में श्रद्धा रखना सम्यग् दृष्टि अथवा आस्तिकता है, इससे विपरीत अर्थात् चेतन तत्त्व में अथवा चारित्र लक्षी तत्त्व में श्रद्धा न रखना मिथ्यादृष्टि अथवा नास्तिकता है। सम्यग्दृष्टि और

मिथ्यादृष्टि का अर्थ, विकासक्रम को देखते हुए अनुक्रम से तत्त्वविषयक श्रद्धा और अश्रद्धा ऐसा ही फलित होता है। वाचक उमास्वाति नामक जैन आचार्य ने सम्यग्दृष्टि का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि आध्यात्मिक और चारित्र लक्षी तत्त्वों में श्रद्धा रखना ही सम्यग्दर्शन है। हम देखते हैं कि इस परिभाषा में किसी एक परम्परा के बाह्य आचार विचार की प्रणालिकाओं का स्पर्श तक नही है। केवल तत्त्व के वास्तविक स्वरूप में श्रद्धा रखने का ही निर्देश है।

तत्त्व श्रद्धा ही सम्यग्दृष्टि हो तो भी वह अर्थ अतिम नही है। अन्तिम अर्थ तो तत्त्व साक्षात्कार है। तत्त्वश्रद्धा तो तत्त्व साक्षात्कार का एक सोपान मात्र है। वह सोपान दृढ़ हो तभी यथोचित पुरुषार्थ से तत्त्व का साक्षात्कार होता है। तव साधक जीवन मात्र मे चेतन तत्त्व का समान भाव से अनुभव करता है और चारित्र लक्षी तत्त्व केवल श्रद्धा के विषय न होकर जीवन के ताने बाने की तरह ओत प्रोत हो जाते है। इसी का नाम तत्त्व साक्षात्कार और यही सम्यग्-दृष्टि शव्द का अन्तिम तथा एक मात्र अर्थ है।

—प० सुखलालजी, 'जैन धर्म का प्राण'

परिशिष्ट ३

पात्रता-योग्यता का महत्व

(१) उपदेश पाने की योग्यता।

चाहे मिथ्यादृष्टि हो, पर भव्य हो और स्वभाव से भद्रक हो, उन्ही को महात्मा साधु धर्मोपदेश देने को तैयार होते हैं।

(२) श्रावक धर्म को योग्यता प्राप्त करने के उपाय।

यदि तुम चाहते हो कि तुम्हारी आत्मा को विशुद्ध धर्म का साधन प्राप्त हो तो तुम्हारा प्रथम कर्त्तव्य इस प्रकार है: दयालु होना, किसी का तिरस्कार न करना, क्रोध त्याग, दुर्जन संग त्याग, असत्य त्याग, परगुणों से प्रेम का अभ्यास, चोरी के विचार का भी त्याग, मिथ्याभिमान त्याग, परस्त्री पर कुदृष्टि का त्याग, धन, ऋद्धि, ज्ञान आदि के मद का त्याग, करुणा, गुरुभक्ति, देव वंदन, संबंधियों का उचित सम्मान, स्नेहियों की इच्छा पूर्ति, मित्रों की सहायता, पर-निन्दा का त्याग, परगुणों को ग्रहण करना, स्वगुणों की प्रशंसा पर नही फूलना, सुकृत करने का ध्यान, परोपकार, महापुरुषों का आदर, धर्म कार्य का अनुमोदन, शुद्धाचरण रखना, इस प्रकार शुद्ध धर्मानुष्ठान की योग्यता प्राप्त होती है।

(३) साधु धर्म योग्यता प्राप्त करने का उपाय। अनिष्टकारी मित्रों (मोह, क्रोध आदि) का साथ छोड़ना, कल्याणकारी मित्रों (क्षमा, संयम आदि) का संग करना, योग्य मर्यादाओं का उल्लंघन न करना, लोक व्यवहार की अपेक्षा रखना, गुरु का और बड़ों का मान और आज्ञापालन, दानप्रवृत्ति, भगवान् की उदार हृदय से पूजा, साधु पुरुषों को निरन्तर खोज, उनसे धर्मशास्त्र श्रवण, पर्यालोचना, अर्थ समझना उनका अनुष्ठान करना, धैर्य रखना, भविष्य-काल की दृष्टि को सामने रखना, मृत्यु निश्चय है यह ध्यान मे रखना, परलोक साधन में तत्परता, मन में विक्षेप हो ऐसे मार्ग को त्याग देना, मन वचन, काया की शुद्धि का प्रयत्न करना, (आवश्यक हो वहां) भगवान् का मन्दिर बनवाना, तीर्थंकर वचन की पुस्तके प्रकाशित कराना, जीर्णोद्धार कराना, नवकार मंत्र का जाप करना, चार शरण (अरिहंत, सिद्ध, साधु और केवली भाषित धर्म का शरण) अंगीकार करना, स्वयं के दुष्कृत्यों की बारबार निन्दा करना, सुकृत्यों की अनुमोदना करना, पूर्वपुरुषों के सुन्दर चरित्र-साहित्य पढ़ना, सुनना, चित्त की उदारता रखना, उत्तम ज्ञान में दत्तचित्त रहना, ऐसा करने से साधु धर्म और साधु योग्य अनुष्ठानो की योग्यता प्राप्त होती है।

(४) सिद्धान्तग्रहण योग्यता। बाह्य और अंतरंग संग का त्याग, भिक्षा पर आधार रखने वाला भाव मुनि, ग्रहण शिक्षा (सूत्रार्थ ग्रहण करना) धारण करता है

इसलिए वस्तु तत्त्व समझने की जिज्ञासावाले स्वयं के साथ दूसरों के शास्त्रों के जानकार, परहित में सदा तत्पर, पराए हृदय के आशय को समझने वाले और गुरुनाम सार्थक करने वाले गुरुमहाराज से सच्चा संबंध कैसे हो सके, इसकी शोध करना, उनका विनय करना, अनुष्ठान की सर्व विधियाँ करना, मंदिल (सूत्र, अर्थ, भजन, सज्झाय आदि) निषिद्या अक्ष (आसन और स्थापनाचार्य) में पूरा यत्न करना, बड़े छोटे का क्रम, यथाविधि भोजन (अशन) क्रिया का पालन करना, विकथा का त्याग, भावपूर्वक क्रिया में उपयोग, सूत्रार्थ विधि पूर्वक सुनना, समझने को चेष्टा करना, सम्यक्ज्ञान स्थिर करने की चेष्टा, मन को स्थिर करना, ज्ञान का अभिमान न करना, ज्ञानहीन की हंसी न उड़ाना, विवाद त्याग, शिक्षित अशिक्षित के साथ समान व्यवहार, तथा कुपात्र को शास्त्र का अभ्यास न कराना। इस प्रकार बहुमान्य योग्यता प्राप्त होगी, शान्ति रूपी लक्ष्मी मिलेगी और भाव सम्पत्ति तुम्हारे आश्रित हो जायगो।

इस प्रकार की सच्ची योग्यता होने पर ही गुरु महाराज तुमको सिद्धांत का सार बतायेंगे और तुम भी सुनने की इच्छा से सुनना, शास्त्र ग्रहण करना, शास्त्र धारण करना, उहा, अपोह, विचारना और तत्त्वज्ञान की प्राप्ति करना इस प्रकार बुद्धि के ८ गुण विकसित होंगे। तत्पश्चात् आसेवन शिक्षा (योग्य क्रिया) उपकरण के पडिलेहण, भिक्षाविधि पूर्ण रूप से समझना, करना चाहिए। तथा इर्यापथि के दोष का प्रतिक्रमण आलोचना विधि, भोजन तथा अन्य प्राकृतिक आवश्यकताओं की

विधि सीखना, उपाधियों रहित होकर सामायिक, प्रतिक्रमण आदि ६ आवश्यक करना, विधि पूर्वक काल ग्रहण, स्वाध्याय, तथा अन्य क्रियाओं में सावधानी रखना, पांच आचार पालन करना, चरण करण की सेवा करना, (स्वानुशासन) पूर्णरूप से अप्रमादभाव जाग्रत रखना, उग्र बिहारी रहना, इस प्रकार तुममें वे गुण उत्पन्न होंगे जिससे बिना स्खलना तुम मोक्ष मे पहुँचोगे।

उपमिति भव प्रपंचा कथा (श्री सिद्धर्षि कृत)
के स्व० मोतीचन्द गि० कापडिया के
गुजराती अनुवाद पर आधारित
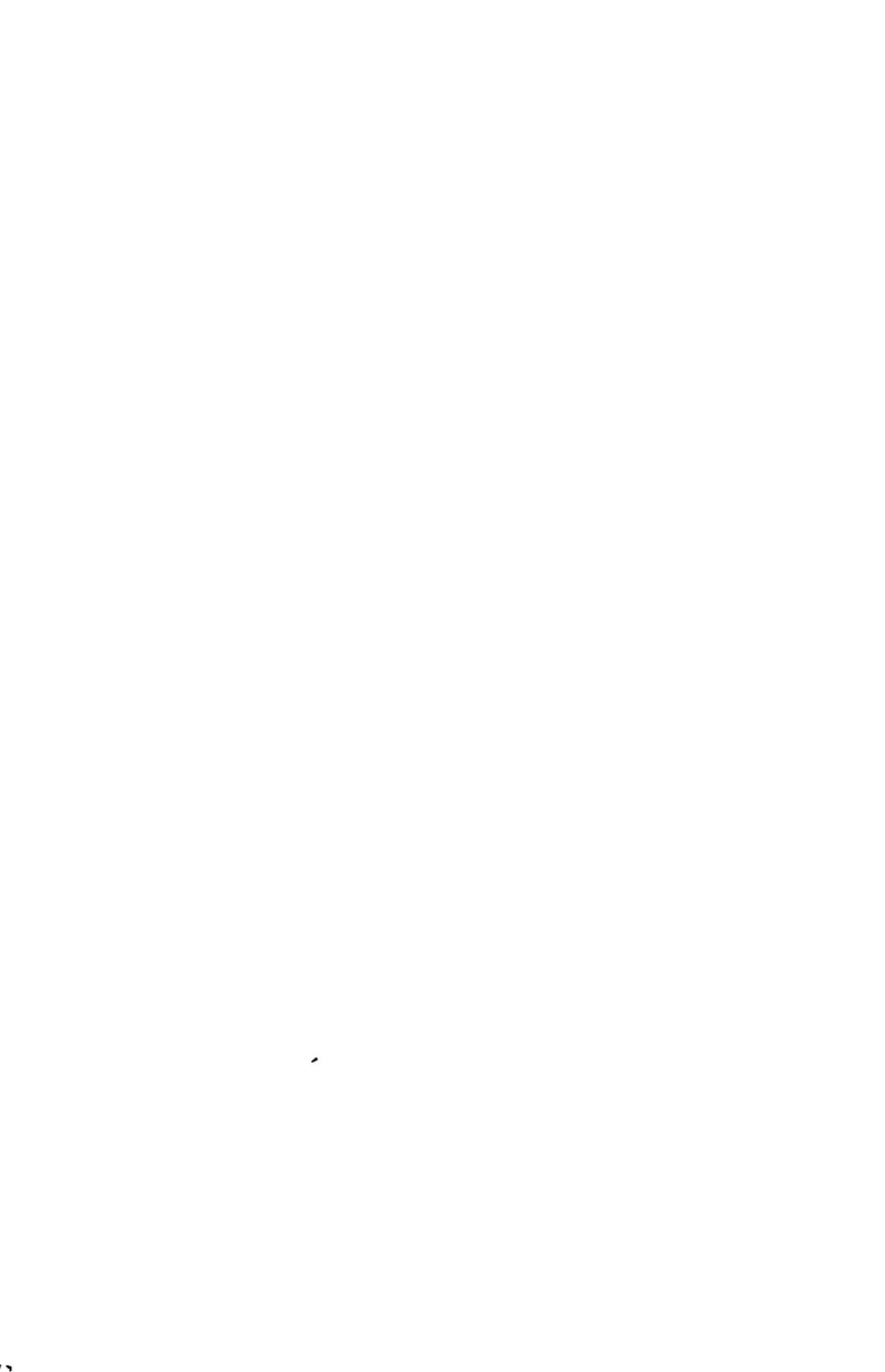
गुणस्थान

आत्मा की शक्तियो का विकास क्रम

पं० सुखलालजी संघवी

के

चौथे कर्म ग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद की भूमिका में से

गुणस्थान

आत्मा की शुद्धता तथा शक्तियों का विकास क्रम

चौदह गुण स्थानों के नाम–(१) मिथ्यादृष्टि (२) सास्वादन सम्यग्दृष्टि (३) सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) (४) अविरत सम्यग्दृष्टि (५) देशविरति (६) प्रमत्त संयत (७) अप्रमत्त संयत (८) अपूर्वाकरण (निवृति बादर) (९) अनिवृति बादर सम्पराय (१०) सूक्षम सम्पराय (११) उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ (१२) क्षीण कषाय वीतराग छद्मस्थ (१३) सयोगिकेवलि (१४) अयोगिकेवली।

गुणों के स्थानों अर्थात् आत्मशक्तियों के विकास की क्रमिक अवस्थाओं को गुणस्थानक कहते हैं। आत्मिक शक्तियों के आविर्भाव को—उनके शुद्ध कार्यरूप में परिणत होते रहने की तर-तम भावापन्न अवस्थाओं को गुणस्थानक कहते हैं। आत्मा का वास्तविक स्वरूप शुद्धचेतना और पूर्णानन्दमय है। उसके ऊपर जब तक तीव्र आवरणों के घने बादलों की घटा छाई हो तब तक उसका असली स्वरूप दिखाई नहीं देता किन्तु आवरणों के क्रमशः शिथिल या नष्ट होते ही उसका असली रूप प्रकट होता है। जब आवरण की तीव्रता आखिरी हद को हो तब आत्मा प्राथमिक अवस्था में अविकसित अवस्था में पड़ा रहता है और जब आवरण बिलकुल ही नष्ट

हो जाते हैं तब आत्मा चरम अवस्था बड़ी शुद्ध स्वरूप पूर्णता में वर्तमान हो जाता है। जैसे-जैसे आवरणों की तीव्रता कम होती जाती है, वैसे-वैसे आत्मा भी प्राथमिक अवस्था को छोड़कर धीरे-धीरे शुद्ध स्वरूप का लाभ करता हुवा चरम अवस्था की ओर प्रस्थान करता है। प्रस्थान के समय इन दो अवस्थाओं के बीच उसे अनेक नीचो-ऊँची अवस्थाओं का अनुभव करना पड़ता है। प्रथम अवस्था को अविकास की अथवा अधःपतन की पराकाष्ठा और चरम अवस्था को विकास की अथवा उत्क्रान्ति की पराकाष्ठा समझना चाहिये। इस विकास क्रम की मध्यवर्तिनी सब अवस्थाओं की अपेक्षा से उच्च भी कह सकते हैं और नीच भी। अर्थात् मध्यवर्तिनी कोई अवस्था अपने से ऊपरवाली अवस्था की अपेक्षा नीचे और नीचे वाली अवस्था की अपेक्षा उच्च कही जा सकती है। विकास की ओर अग्रसर आत्मा वस्तुतः उक्त प्रकार की संख्यातीत आध्यात्मिक भूमिकाओं का अनुभव करता है। इन भूमिकाओं का संक्षेप में वर्गीकरण करके उनके चौदह भेद किये है जो चौदह गुणस्थानक कहलाते है।

सब आवरणों में मोह का आवरण प्रधान है। अर्थात् जब तक मोह बलवान और तीव्र हो तव तक अन्य सभी आवरण वलवान और तीव्र बने रहते हैं। इसके विपरीत मोह के निर्बल होते ही अन्य आवरणों की वैसी ही दशा हो जाती है। इसलिये आत्मा के विकास करने में मुख्य वाधक मोह की प्रबलता और मुख्य सहायक मोह की निर्बलता समझनी चाहिये। इसी कारण गुणस्थानक की विकासक्रम-गत अवस्थाओं की

कल्पना मोह-शक्ति की उत्कटता, मन्दता तथा अभाव पर अवलम्बित है।

मोह की प्रधान शक्तिया दो है। इनमें से पहली शक्ति, आत्मा को दर्शन अर्थात् स्व-रूप पर-रूप का निर्णय किंवा जड़ चेतन का विभाग या विवेक प्राप्त करने नही देती, और दूसरी शक्ति आत्मा को विवेक प्राप्त कर लेने पर भी तदनुसार प्रवृत्ति अर्थात् अभ्यास पर परिणति से छूटकर स्वरूप लाभ नही करने देती। व्यवहार मे पग-पग पर यह देखा जाता है कि किसी वस्तु का यथार्थ दर्शन-बोध कर लेने पर ही उस वस्तु को पाने या त्यागने की चेष्टा की जाती है और वह सफल भी होती है। आध्यात्मिक-विकासगामी आत्मा के लिए भी मुख्य दो ही कार्य हैं। पहला, स्व-रूप तथा पर-रूप का यथार्थ दर्शन किंवा भेद ज्ञान करना, और दूसरा स्व-रूप में स्थित होना। इनमें से पहले कार्य को रोकनेवाली मोह की शक्ति को 'दर्शन मोह' और दूसरे कार्य को रोकनेवाली मोह की शक्ति 'चारित्र मोह' कहलाती है। दूसरी शक्ति पहली शक्ति की अनुगामिनी है। अर्थात् पहली शक्ति प्रबल हो तब तक दूसरी शक्ति भी निर्बल नही होती और पहली शक्ति के मन्द, मन्दतर और मन्दतम होते ही दूसरी शक्ति भी क्रमशः वैसी ही होने लगती है। अथवा यो कहिये कि एक बार आत्मा स्व-रूप दर्शन कर पावे तो फिर उसे स्व-रूप लाभ करने का मार्ग प्राप्त हो हो जाता है।

अविकसित किंवा सर्वथा अधःपतित आत्मा की अवस्था प्रथम गुणस्थानक है। इसमें मोह की उक्त दोनो शक्तियों के प्रबल होने के कारण आत्मा की आध्यात्मिक स्थिति बिलकुल

गिरी हुई होती है। इस भूमिका के समय आत्मा चाहे आधि-भौतिक उत्कर्ष कितना ही क्यों न करले, पर उसकी प्रवृत्ति तात्त्विक लक्ष्य से सर्वथा शून्य होती है। जैसे दिग्भ्रमवाला मनुष्य पूर्व को पश्चिम मानकर गति करता है और अपने इष्ट स्थान को नहीं पाता, उसका सारा श्रम एक तरह से वृथा हो जाता है, वैसे ही प्रथम भूमिकावाला आत्मा पर-रूप को स्व-रूप समझ कर उसी को पाने के लिये प्रति क्षण लालायित रहता है और विपरीत दर्शन या मिथ्यादृष्टि के कारण राग द्वेष की प्रबल चोटों का शिकार बनकर तात्त्विक सुख से वंचित रहता है। इस भूमिका को 'बहिरात्म भाव' किंवा मिथ्यादर्शन कहते हैं। इस भूमिका में जितने आत्मा वर्तमान होते है, उन सब की आध्यात्मिक स्थिति एक सी नहीं होती। अर्थात् सबके ऊपर मोह की सामान्यतः दोनों शक्तियों का आधिपत्य होने पर भी उसमें थोड़ा बहुत तर-तम भाव अवश्य होता है। किसी पर मोह का प्रभाव गाढ़तम, किसी पर गाढ़तर और किसी पर उससे भी कम होता है। विकास करना, यह प्रायः आत्मा का स्वभाव है। इसलिये जानते या अजानते, जब उस पर मोह का प्रभाव कम होने लगता है तब वह कुछ विकास की ओर अग्रसर हो जाता है और तीव्रतम राग द्वेष को कुछ मंद करता हुवा मोह की प्रथम शक्ति को छिन्न भिन्न करने योग्य आत्मबल प्रकट कर लेता है। इस स्थिति को 'ग्रन्थी भेद' कहते हैं।

ग्रन्थी भेद का कार्य बड़ा ही विषम है। राग द्वेष की तीव्रतम विष-ग्रन्थी, एक बार शिथिल व छिन्न-भिन्न हो जाय तो फिर बेड़ा पार ही समझिये; क्योंकि इसके बाद मोह की

प्रधान शक्ति दर्शन मोह को शिथिल होने में देर नहीं लगती और दर्शन मोह शिथिल हुआ कि चारित्र मोह की शिथिलता का मार्ग अपने आप खुल जाता है। एक तरफ राग द्वेष अपने पूरे बल का प्रयोग करते है दूसरी ओर विकासोन्मुख आत्मा भी उनके प्रभाव को कम करने के लिए अपने वीर-बल का प्रयोग करता है। इस आध्यात्मिक युद्ध में अर्थात् मानसिक विकार और आत्मा की प्रतिद्वन्दता में कभी एक तो कभी दूसरा जयलाभ करता है। अनेक आत्मा ऐसे भी होते है जो करीब करीब ग्रन्थी भेद करने लायक बल प्रकट करके भी अन्त में राग द्वेष के तीव्र प्रहारों से आहत होकर वह उनसे हार खाकर अपनी मूल स्थिति में आते है और अनेक बार प्रयत्न करने पर भी राग द्वेष पर जयलाभ नहीं कर पाते। अनेक आत्मा ऐसे भी होते हैं जो न तो हार खाकर पीछे गिरते हैं न जयलाभ कर पाते हैं, किन्तु वे चिरकाल तक उस आध्यात्मिक युद्ध के मैदान में ही पड़े रहते हैं। कुछ आत्मा ऐसे भी होते हैं जो अपनी शक्ति का यथोचित प्रयोग करके उस आध्यात्मिक युद्ध मे राग द्वेष पर जयलाभ कर ही लेते हैं। किसी भी मानसिक विकार की प्रतिद्वन्दताये इन तीनों अवस्थाओं का अर्थात् कभी हार खाकर पीछे गिरने का, कभी प्रतिस्पर्धा में डटे रहने का और कभी जयलाभ करने का अनुभव हमें प्रायः नित्य प्रति हुआ करता है। यही संघर्ष कहलाता है। संघर्ष विकास का कारण है। चाहे विद्या, चाहे धन, चाहे कीर्ति, कोई भी लौकिक वस्तु इष्ट हो, उसको प्राप्त करते समय भी अचानक अनेक विघ्न उपस्थित होते है

और उनकी प्रतिद्वन्दता में उक्त प्रकार के तीनों अनुभवों का प्रायः अनुभव होता रहता है। कोई विद्यार्थी, कोई धनार्थी या कोई कीर्ति का आकाँक्षी जब अपने इष्ट के लिए प्रयत्न करता है, तब या तो वह बीच में अनेक कठिनाइयों को देख कर प्रयत्न छोड़ देता है या कठिनाइयों को पार कर इष्ट प्राप्ति के मार्ग की ओर अग्रसर होता है। जो अग्रसर होता है वह बड़ा विद्वान, बड़ा धनवान या बड़ा कीर्तिवान बन जाता है। जो कठिनाइयों से डरकर पीछे भागता है वह पामर, अज्ञानी या निर्धन या कीर्तिहीन बना रहता है। और जो न कठिनाइयों को जीत सकता है और न हार मानकर पीछे भागता है, वह साधारण स्थिति में पड़ा रहकर कोई ध्यान खींचने योग्य उत्कर्ष लाभ नहीं करता।

प्रथम गुणस्थानक में रहने वाले विकासगामी ऐसे अनेक आत्मा होते हैं, जो राग द्वेष के तीव्रतम वेग को थोड़ा सा दबाये हुये होते हैं पर मोह की प्रधान शक्ति को अर्थात् दर्शन मोह को शिथिल किये हुये नहीं होते। यदि वे राग द्वेष की अतितीव्रता को मिटा देने में सफल हो जायं तो दर्शन मोह पर जयलाभ करना सहज है। दर्शन मोह को जीतना पहले गुणस्थानक की समाप्ति हुई।

ऐसा होते ही विकासगामी आत्मा स्वरूप का दर्शन कर लेता है अर्थात् उसको अब तक जो पर-रूप में स्व-रूप की जो भ्रान्ति थी, वह दूर हो जाती है अतएव उसके प्रयत्न की गति उलटी न होकर सीधी हो जाती है। अर्थात् वह विवेकी बनकर कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का वास्तविक विभाग कर लेता है। इस दशा

को अन्तरात्मभाव कहते हैं; क्योंकि इस स्थिति को प्राप्त करके विकासगामी आत्मा अपने अन्दर वर्तमान सूक्षम और सहज शुद्ध परमात्मभाव देखने लगता है, अर्थात् अन्तरात्मभाव, यह आत्म मन्दिर का गर्भद्वार है, जिसमें प्रविष्ट होकर उस मन्दिर में वर्तमान परमात्मभावरूप निश्चय देव का दर्शन किया जाता है। यह दशा विकास क्रम की चौथी भूमिका किंवा चतुर्थ गुणस्थानक है, जिसे पाकर आत्मा सर्व प्रथम आध्यात्मिक शान्ति का अनुभव करता है। इस भूमिका मे आध्यात्मिक दृष्टि यथार्थ (आत्मस्वरूपोन्मुख) होने के कारण विपर्यास रहित होती है। इसे सम्यग्दृष्टि किंवा सम्यक्त्व कहते है।

चतुर्थ से आगे की अर्थात् पंचम आदि सब भूमिकाएँ सम्यग्दृष्टि वाली ही समझना चाहिये क्योंकि उसमें उत्तरोत्तर विकास तथा दृष्टि की शुद्धि अधिकाधिक होती जाती है। चतुर्थ गुणस्थानक में स्व-रूप दर्शन करने से आत्मा को अपूर्व शान्ति मिलती है और उसको विश्वास होता है कि अब मेरा साध्य विषयक भ्रम दूर हुआ, अर्थात् अब तक जिस पौद्गलिक व बाह्य सुख के लिये में तरस रहा था, वह परिणाम सुन्दर विरस, अस्थिर एवं परिमित है, परिणाम सुन्दर स्थिर व अपरिमित सुख स्व-रूप प्राप्ति में है। तब वह विकासगामी आत्मा स्व-रूप स्थिति के लिये प्रयत्न करने लगता है।

मोह की प्रधान शक्ति-दर्शन मोह को शिथिल करके स्व-रूप दर्शन कर लेने के बाद भी, जब तक उसकी दूसरी शक्ति चारित्र मोह को शिथिल न किया जाय, तब तक स्व-रूपलाभ

किवा स्वरूप-स्थिति नहीं हो सकती। इसलिये वह मोह की दूसरी शक्ति को मन्द करने के लिये प्रयास करता है। जब वह उस शक्ति को अंशत: शिथिल कर लेता है, तब उसकी और भी उत्क्रान्ति हो जाती है। जिसमें अंशत: स्व-रूप स्थिरता या परिणति त्याग होने से चतुर्थ भूमिका की अपेक्षा अधिक शान्ति लाभ होता है। यह देशविरति नामक पांचवां गुणस्थानक है।

इस गुणस्थानक में विकासगामी आत्मा को यह विचार होने लगता है कि यदि अल्प विरति से ही इतना अधिक शान्ति लाभ हुआ तो फिर सर्वविरति जड़भावों के सर्वथा परिहार से कितना शान्तिलाभ होगा इस विचार से प्रेरित होकर वह प्राप्त आध्यात्मिक शान्ति के अनुभव से बलवान होकर वह विकासगामी आत्मा चारित्र मोह को अधिकांश में शिथिल करके पहले की अपेक्षा भी अधिक स्व-रूप स्थिरता व स्व-रूपलाभ प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इस चेष्टा में कृतकृत्य होते ही उसे सर्वविरति संयम प्राप्त होता। जिसमें पौद्गलिक भावों पर मूर्च्छा बिलकुल नही रहती और उसका सारा समय स्व-रूप की अभिव्यक्ति करने के काम में ही खर्च होता है। यह सर्वविरति नामक षष्ट गुणस्थानक है। इसमें आत्मकल्याण के अतिरिक्त लोककल्याण की भावना और तदनुकूल प्रवृत्ति भी होती है, जिससे कभी-कभी थोड़ी बहुत मात्रा में प्रमाद आजाता है।

पांचवे गुणस्थानक की अपेक्षा, इस छठे गुणस्थान में स्व-रूप अभिव्यक्ति अधिक होने के कारण यद्यपि विकासगामी आत्मा को आध्यात्मिक शान्ति पहले अधिक मिलती है तथापि बीच

बीच में अनेक प्रमाद उसे शान्ति अनुभव में जो बाधा पहुँचाते हैं उसको वह सहन नहीं कर सकता, अतएव सर्वविरति-जनित शान्ति के साथ अप्रमाद-जनित विशिष्ठ शान्ति का अनुभव करने की प्रबल लालसा से प्रेरित होकर वह विकास-गामी आत्मा प्रमाद का त्याग करता है और स्व-रूप की अभिव्यक्ति के अनुकूल मनन-चिन्तन के सिवाय अन्य सब व्यापारों का त्याग कर देता है। यही अप्रमत्त संयत नामक सातवां गुणस्थान है। इसमें एक ओर अप्रमादजन्य उत्कट सुख का अनुभव, आत्मा को उस स्थिति में बने रहने के लिये उत्तेजित करता है और दूसरी ओर प्रमाद-जन्य पूर्व वासनाएँ उसे अपनी ओर खींचती हैं। इस खींचातानी में विकास-गामी आत्मा कभी प्रमाद की तन्द्रा और कभी अप्रमाद की जागृति अर्थात् छठे और सातवें गुणस्थान में अनेक बार जाता आता रहता है। भंवर या वातभ्रमी में पड़ा हुआ तिनका इधर से उधर और उधर से इधर जिस प्रकार चलायमान होता रहता है, उसी प्रकार छठे और सातवें गुणस्थान के समय विकासगामी आत्मा अव्यवस्थित बन जाता है।

प्रमाद के साथ होनेवाले इस आन्तरिक युद्ध के समय विकासगामी आत्मा यदि अपना चारित्र-बल विशेष प्रकाशित करता है तो फिर वह प्रमादी प्रलोभनों को पार कर विशेष अप्रमत्त अवस्था प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था को पार कर वह ऐसी शक्ति की तैयारी करता है कि जिससे शेष रहे सहे मोह बल को नष्ट किया जा सके। मोह के साथ होनेवाले

भाव युद्ध के लिये की जानेवाली तैयारी की इस भूमिका को आठवां गुणस्थानक कहते है।

पहले कभी न हुई ऐसी आत्मशुद्धि इस गुणस्थानक में हो जाती है। जिससे कोई विकासगामी आत्मा तो मोह संस्कारों के प्रभाव को क्रमशः दबाता हुआ आगे बढ़ता है तथा अन्त मे उसे बिलकुल हो उपशान्त कर देता है। और विशेष आत्म-शुद्धिवाला कोई दूसरा व्यक्ति ऐसा भी होता है जो मोह के संस्कारों को क्रमशः जड़मूल से उखाड़ता हुआ आगे बढ़ता है तथा अन्त में उन सब संस्कारों को सर्वथा निर्मूल ही कर डालता है। इस प्रकार आठवे गुणस्थान से आगे बढ़नेवाले अर्थात् अन्तरात्म-भाव के विकास द्वारा परमात्म भाव रूप सर्वोपरि भूमिका के निकट पहुँचनेवालों की आत्मा दो श्रेणियों में विभक्त हो जाती है। एक श्रेणीवाले तो ऐसे होते हैं जो मोह को एक बार सर्वथा दबा तो लेते है पर उसे निर्मूल नही कर पाते। अतएव जिस प्रकार किसी बर्तन में भरी हुई भाप कभी-कभी अपने वेग से उस बर्तन को उड़ा ले भागती है या नीचे गिरा देती है अथवा जिस प्रकार राख के नीचे दबा हुआ अग्नि कण हवा का झोका लगते ही अपना कार्य करने लगता है, किंवा जिस प्रकार जल के तल में बैठा हुआ मल थोड़ासा क्षोभ पाते ही ऊपर उठकर जल को गन्दला कर देता है, उसी प्रकार पहले दबाया हुआ मोह भी आन्तरिक युद्ध मे थके हुए उन प्रथम श्रेणीवाले आत्माओं को अपने वेग के द्वारा नीचे पटक देता है। एक बार सर्वथा दबाये जाने पर भी मोह जिस भूमिका से आत्मा को हार दिलाकर नीचे

की ओर पटक देता, वही ग्यारहवां गुणस्थानक है। मोह को क्रमशः दबाते दबाते सर्वथा दबाने तक में उत्तरोत्तर अधिक अधिक विशुद्धि वाली दो भूमिकाएं अवश्य प्राप्त करनी पड़ती हैं जो नवां तथा दसवां गुणस्थानक कहलाता है। ग्यारहवां गुणस्थानक अधःपतन का स्थान है। क्योंकि उसे पानेवाला आत्मा आगे न बढ़कर एक बार अवश्य नीचे गिरता है।

दूसरी श्रेणीवाला आत्मा मोह को क्रमशः निर्मूल करते करते अन्त में उसे सर्वथा निर्मूल कर ही डालता है। सर्वथा निर्मूल करने की जो उच्च भूमिका है वही बारहवां गुण-स्थानक है। इस गुणस्थानक को प्राप्त करने तक में अर्थात् मोह को सर्वथा निर्मूल करने से पहले बीच में नवां और दसवां गुणस्थानक प्राप्त करना पड़ता है। इसी प्रकार देखा जाय तो चाहे पहली श्रेणीवाले हों, चाहे दूसरी श्रेणीवाले पर वे सब नवां-दसवां गुणस्थानक प्राप्त करते ही हैं। दोनों श्रेणीवालों में अन्तर इतना ही होता है कि प्रथम श्रेणीवालों की अपेक्षा दूसरी श्रेणीवालों में आत्मशुद्धि व आत्म-बल विशिष्ठ प्रकार का पाया जाता है। जैसे किसी एक दर्जे के विद्यार्थी भी दो प्रकार के होते हैं। एक प्रकार के तो ऐसे होते है जो सौ कोशिश करने पर भी एक बार में अपनी परीक्षा में पास होकर आगे नहीं बढ़ सकते। जबकि दूसरे प्रकार के विद्यार्थी अपनी योग्यता के बल से सब कठिनाइयों को पारकर उस कठिनतम परीक्षा को बेधडक पास कर ही लेते हैं। इन दोनों श्रेणी के इस अन्तर का कारण उनकी आन्तरिक योग्यता की न्यूनाधिकता है। वैसे ही नवें तथा दसवें गुणस्थानक

को प्राप्त करनेवाले उक्त दोनों श्रेणीगामी आत्माओं की आध्यात्मिक विशुद्धि न्यूनाधिक होती है, जिसके कारण एक श्रेणीवाले तो दसवें गुणस्थानक को पाकर ग्यारहवें गुणस्थानक में मोह से हारकर नीचे गिरते हैं और अन्य श्रेणीवाले दसवें गुणस्थानक को पाकर इतना अधिक आत्म-बल प्रकट करते हैं कि अन्त में वे मोह को सर्वथा क्षीण कर बारहवें गुणस्थान को प्राप्त कर ही लेते हैं।

जेसे ग्यारहवां गुणस्थानक अवश्य पुनरावृति का है, वैसे ही बारहवां गुणस्थान अपुनरावृति का है। अर्थात् ग्यारहवां गुणस्थानक पानेवाला आत्मा एक बार अवश्य नीचे गिरता है और बारहवां गुणस्थानक पानेवाला उससे कदापि नहीं गिरता बल्कि ऊपर को ही चढ़ता है। किसी एक परीक्षा में पास नहीं होने वाले विद्यार्थी जिस प्रकार परिश्रम व एकाग्रता से योग्यता बढ़ाकर फिर उस परीक्षा को पास कर लेते हैं उसी प्रकार एक बार मोह से हार खानेवाले आत्मा भी अप्रमत्त भाव व आत्मबल की अधिकता से फिर मोह को अवश्य क्षीण कर देते हैं। उक्त दोनों श्रेणीवाले आत्माओं को तर-तम भावापन्न आध्यात्मिक विशुद्धि मानों परमात्मभाव रूप सर्वोच्च भूमिका पर चढ़ने की दो सीढ़ियां हैं जिनमें से एक को 'उपशम श्रेणी' और दूसरी को 'क्षपकश्रेणी' कहते है। पहली कुछ दूर चढ़कर गिरानेवाली और दूसरी चढ़ानेवाली ही है। पहली श्रेणी से गिरनेवाला आध्यात्मिक अधःपतन के द्वारा चाहे प्रथम गुणस्थानक तक क्यों न चला जाय पर उसकी वह अधःपतित स्थिति कायम नहीं रहती। कभी न कभी फिर वह

दूने बल से और दूनी सावधानी से तैयार होकर मोह शत्रु का सामना करता है और अन्त में दूसरी श्रेणी की योग्यता प्राप्त कर मोह को सर्वथा क्षय कर डालता है। व्यवहार में अर्थात् आधिभौतिक क्षेत्र में भी यह देखा जाता है कि जो एक बार हार खाता है वह पूरी तैयारी करके हरानेवाले शत्रु को फिर से हरा सकता है।

परमात्म-भाव का स्वराज्य प्राप्त करने में मुख्य बाधक मोह ही है, जिसको नष्ट करना अन्तरात्मभाव के विशिष्ठ विकास पर निर्भर है। मोह का सर्वथा नाश हुआ कि अन्य आवरण जो घातीकर्म कहलाते हैं, वे प्रधान सेनापति के मारे जाने के बाद अनुगामी सैनिकों की तरह एक साथ तितर-बितर हो जाते हैं। फिर क्या देरी, विकासगामी आत्मा तुरन्त ही परमात्म-भाव का पूर्ण आध्यात्मिक स्वराज्य प्राप्त कर अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूप को पूर्णतया व्यक्त करके निरतिशय ज्ञान चारित्र आदि का लाभ करता है तथा अनिर्वचनीय स्वाभाविक सुख का अनुभव करता है। जैसे पूर्णिमा की रात में चन्द्रमा की सम्पूर्ण कलाएं प्रकाशमान होती है वैसे ही उस समय आत्मा की चेतना आदि सब ही मुख्य शक्तियां पूर्ण विकसित हो जाती हैं। इस भूमिका को तेरहवां गुणस्थानक कहते हैं।

इस गुणस्थानक में चिरकाल तक रहने के बाद आत्मा दग्ध रज्जु के समान शेष आवरणों को अर्थात् प्रधानभूत अघाती कर्मों को उड़ाकर फेंक देने के लिये सूक्ष्म क्रिया प्रतिप्राति शुक्लध्यान रूप पवन का आश्रय लेकर मानसिक, वाचिक और

कायिक व्यापारों को सर्वथा रोक देता है। यही आध्यात्मिक विकास की पराकाष्ठा किंवा चौदहवां गुणस्थानक है। इसमें आत्मा समुच्छिन्न क्रिया प्रतिपाति शुक्लध्यान द्वारा सुमेरु की तरह निष्प्रकम्प स्थिति को प्राप्त करके अन्त में शरीर त्याग पूर्वक व्यवहार और परमार्थ दृष्टि से लोकोत्तर स्थान को प्राप्त करता है, यही निर्गुण ब्रह्म स्थिति है, यही सर्वाङ्गीण पूर्णता है, यही पूर्ण कृत कृत्यता है, यही परम पुरुषार्थ की अन्तिम सिद्धि है, यही अपुनरावृत्ति स्थान है; क्योंकि संसार का एक मात्र कारण मोह है। जिसके सब संस्कारों का निश्शेष नाश हो जाने के कारण अब उपाधि का होना संभव नहीं है।

यह कथा हुई पहले से चौदहवें गुणस्थानक तक के बारह गुणस्थानों की, इसमें दूसरे और तीसरे गुणस्थानों की कथा जो छूट गई है, वह इस प्रकार है कि सम्यक्त्व किंवा तत्त्वज्ञान वाली ऊपर की चतुर्थं आदि भूमिकाओं के राज मार्ग से च्युत होकर जब कोई आत्मा तत्त्वज्ञान शून्य किंवा मिथ्यादृष्टिवाली प्रथम भूमिका के उन्मार्ग की ओर झुकता है, तब बीच में उस अधः पतन पतनोन्मुख आत्मा की जो कुछ अवस्था होती है वही दूसरा गुणस्थानक है। यद्यपि इस गुणस्थानक में प्रथम गुणस्थानक की अपेक्षा आत्मशुद्धि अवश्य कुछ अधिक होती है, इसीलिये इसका नम्बर पहले के बाद रखा गया है फिर भी यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि इस स्थान को उत्क्रान्ति स्थान नहीं कह सकते; क्योंकि प्रथम गुणस्थानक को छोड़कर उत्क्रान्ति करनेवाला आत्मा इस दूसरे गुणस्थानक को सीधे तौर से प्राप्त नहीं कर सकता किन्तु ऊपर के गुणस्थानक से

गिरनेवाली आत्मा ही इसका अधिकारी बनता है। अधः-पतन मोह के उद्वेग से होता है। अतएव इस गुणस्थानक के समय मोह की तीव्र कषायिक शक्ति का आविर्भाव पाया जाता है। खीर आदि मिष्ट भोजन करने के बाद जब वमन हो जाता है तब मुख में एक प्रकार का विलक्षण स्वाद अर्थात् न अति मधुर न अति अम्ल जैसा प्रतीत होता है। इसी प्रकार दूसरे गुणस्थानक के समय आध्यात्मिक स्थिति विलक्षण पाई जाती है; क्योंकि उस समय आत्मा न तो तत्त्वज्ञान की निश्चित भूमिका पर है और न तत्त्वज्ञान शून्य निश्चित भूमिका पर। अथवा जैसे कोई व्यक्ति चढ़ने को सीढ़ियों से खिसक कर जब तक जमीन पर आकर ठहर नहीं जाता तब तक बीच में एक विलक्षण अवस्था का अनुभव करता है वैसे ही सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व को पाने तक में अर्थात् बीच में आत्मा एक विलक्षण आध्यात्मिक अवस्था का अनुभव करता है। यह बात हमारे इस व्यवहारिक अनुभव से भी सिद्ध होती है कि जब किसी निश्चित उन्नत अवस्था से गिरकर कोई निश्चित अवनत अवस्था प्राप्त की जाती है तब बीच में एक विलक्षण स्थिति खड़ी होती है। तीसरा गुणस्थानक आत्मा की उस मिश्रित अवस्था का नाम है जिसमें न तो केवल सम्यक्दृष्टि होती है और न केवल मिथ्यादृष्टि, किन्तु आत्मा उसमें दोलायमामान स्थितिवाला बन जाता है। अतएव उसकी बुद्धि स्वाधीन न होने के कारण सन्देहशील होती है, अर्थात् उसके सामने जो कुछ आया क्या वह सब सच है। अर्थात् न तो वह तत्त्व को एकान्त अतत्त्वरूप से ही

जानता है और न तत्त्व अतत्त्व का वास्तविक पूर्ण विवेक ही कर सकता है।

कोई उत्क्रान्तिवाला आत्मा प्रथम गुणस्थान से निकल कर सीधे ही तीसरे गुणस्थानक को प्राप्त कर सकता है और कोई अपक्रान्तिवाला आत्मा भी चतुर्थ आदि गुणस्थानक से गिरकर तीसरे गुणस्थानक को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार उत्क्रान्ति करनेवाले और अपक्रान्ति करनेवाले दोनों प्रकार के आत्माओं का आश्रय स्थान तीसरा गुणस्थानक है। यही तीसरे गुणस्थानक की दूसरे गुणस्थानक से विशेषता है।

ऊपर आत्मा की जिन चौदह अवस्थाओं का विचार किया है, उनका तथा उनके अन्तर्गत अवान्तर सख्यातीत अवस्थाओं का बहुत संक्षेप में वर्गीकरण करके, शरीरधारी आत्मा की सिर्फ तीन अवस्थाएँ बतलाई है—(१) वहिरात्म-अवस्था (२) अन्तरात्म-अवस्था और (३) परमात्म-अवस्था।

पहली अवस्था में वास्तविक-विशुद्ध रूप अत्यन्त आच्छन्न रहता है कि जिसके कारण आत्मा मिथ्याध्यास वाला होकर होकर पौद्गलिक विलासो को ही सर्वस्व मान लेता है और उन्हीं की प्राप्ति के लिये सम्पूर्ण शक्ति व्यय करता है।

दूसरी अवस्था में आत्मा का वास्तविक स्वरूप पूर्णतया तो प्रकट नहीं होता पर उसके ऊपर का आवरण गाढ़ न होकर शिथिल, शिथिलतर, शिथिलतम बन जाता है, जिसके कारण उसकी दृष्टि पौद्गलिक विलासों की ओर से हट कर शुद्ध स्वरूप की ओर लग जाती है, इसीसे उसकी दृष्टि में शरीर आदि की जीर्णता व नवीनता अपनी जीर्णता व नवीनता नहीं है। यह दूसरी अवस्था ही तीसरी अवस्था का दृढ़ सोपान है।

तीसरी अवस्था में आत्मा का वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाता है अर्थात् उसके ऊपर के घने आवरण बिलकुल विलीन हो जाते हैं।

पहिला, दूसरा और तीसरा गुणस्थानक बहिरात्म अवस्था का चित्रण है। चौथे से बारहवें तक के गुणस्थानक अन्तरात्म-अवस्था का दिग्दर्शन है और तेरहवां व चौदहवां परमात्म-अवस्था की स्थिति है।

आत्मा का स्वभाव ज्ञानमय है। इसलिये वह चाहे किसी गुणस्थानक में क्यों न हो, पर ध्यान से कदापि मुक्त नहीं रहता। ध्यान के सामान्य रीति से (१) शुभ और अशुभ, ऐसे दो विभाग और विशेष रीति से (१) आर्त्त (२) रौद्र (३) धर्म और (४) शुक्ल ऐसे चार विभाग हैं। चार में से पहले दो अशुभ और पिछले दो शुभ है। पौद्गलिक दृष्टि की मुख्यता किंवा आत्म-विस्मृति के समय जो ध्यान होता है वह अशुभ और पौद्गलिक दृष्टि की गौणता व आत्मानुसंधान-दशा में जो ध्यान होता है वह शुभ है। अशुभ ध्यान संसार का कारण और शुभ ध्यान मोक्ष का कारण है। पहले तीन गुणस्थानकों में आर्त्त और रौद्र ये दो ध्यान ही तर-तम भाव से पाये जाते हैं। चौथे और पांचवे गुणस्थान में उक्त दो ध्यानों के अतिरिक्त सम्यक्त्व के प्रभाव से धर्मध्यान भी होता है। छटे गुणस्थानक में आर्त्त और धर्म ये दो ध्यान होते हैं। सातवें गुणस्थान में सिर्फ धर्मध्यान होता है। आठवें से बारहवे तक पाँच गुणस्थानकों में धर्म और शुक्ल ये दो ध्यान होते है। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानक में सिर्फ शुक्ल ध्यान होता है।

गुणस्थानकों में पाये जानेवाले ध्यानों के उक्त वर्णन से तथा गुणस्थानकों में किए हुए बहिरात्म भाव आदि पूर्वोक्त विभाग से प्रत्येक मनुष्य यह सामान्यतया जान सकता है कि मैं किस गुणस्थानक का अधिकारी हूँ। ऐसा ज्ञान, योग्य अधिकारी की नैसर्गिक महत्वाकांक्षा को ऊपर के गुणस्थानकों के लिए उत्तेजित करता है।

—चौथे कर्मग्रन्थ के पं० सुखलालजी कृत
हिन्दी अनुवाद की भूमिका से

उपसंहार

पिछले प्रकरणों में बताया गया है कि मनुष्य किस प्रकार आत्मशिक्षा द्वारा अपने दुर्गुणों को मिटाता हुआ, सद्गुणों को बढ़ाता हुआ, अपने मनोभावों और चित्त को निर्मलातिनिर्मल करता हुआ आत्मा को कर्मरज से मुक्त करता हुआ उत्तरोत्तर आत्मा के मूल गुण प्रकट करता हुआ पूर्ण सुखी, पूर्ण शुद्ध और पूर्ण विकसित आत्मा की स्थिति पर पहुँचता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है। यह सब उन्नति क्रम से एक एक कक्षा, एक एक श्रेणी, एक एक गुणस्थानक प्राप्त कर कर होती है। उन्ही कक्षाओं, श्रेणियों अथवा गुणस्थानकों का वर्णन इस प्रकरण में किया गया है। यह पूरा क्रम १४ गुणस्थानकों में अर्थात् कक्षाओं में विभाजित किया गया है।

पहली तीन कक्षाओं में प्राणी प्रायः अज्ञान अवस्था में रहता है, वह नहीं समझता कि सुख का श्रोत आत्मा है और अन्य वस्तुएं तो उसके बंधन है, उसके गुण प्रकाशन में बाधक है। वह प्राकृतिक नियमों से अनभिज्ञ है जिनके कारण संसार में सुख दुःख अनुभव किए जाते हैं। वह सुख दुःख के कारणो को नही जानता है, न दुःखों से मुक्त हो पूर्ण सुख प्राप्त करने के उपायों को ही जानता है। वह भ्रम में

पड़ा है और कभी कभी उसके सामने प्रकाश की किरण की झलक जाती है तब भी वह कुछ नही समझ सकता। ये कक्षाएं मानों प्राथमिक कक्षाएं हैं। जब वह चौथी कक्षा में पहुँचता है तब उसकी आँखें खुलती हैं, प्रकृति के नियमों को समझने लगता है, उसे उन्नति का प्रगति मार्ग दीखने लगता है पर वह अपने आपको उस मार्ग पर चलने में असमर्थ पाता है, पर उसमें उस मार्ग पर अग्रसर होने की उत्कट इच्छा रहती है और वह सदा इसके लिये प्रयास कर आगे चलने की शक्ति प्राप्त कर पांचवीं कक्षा में पहुँचता है। उस कक्षा के नियमों का पालन कर आत्मा शिक्षा प्राप्त कर आगे की कक्षा प्रवेश की योग्यता प्राप्त करता है और उस कक्षा में जाकर वहां के नियमों का पालन कर अधिक आत्मशुद्धि और गुण तथा आत्मबल प्राप्त करता है। उसमें आगे बढ़ने की आत्म लगन और शक्ति और योग्यता बढ़ती है और यथा समय वह आगे की कक्षा में पहुँचता है। इस प्रकार वह आत्मा पर से कर्मरज और उनके कारण हटाता हुआ पुरुषार्थ द्वारा अपनी योग्यता और पात्रता बढ़ाता हुआ आगे की कक्षाओं में प्रवेश और उन्नति करता हुआ सर्वोपरि कक्षा में पहुँचकर पूर्णता प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करता है। यह सब प्रगति इसी जन्म में ही नहीं हो जाती पर वह अन्य जन्मान्तरों में प्रगति करता रहता है और यदि किसी कारणवश ठोकर खाकर नीचे गिर भी जाता है तब भी पुनः उठकर प्रगति के पथ पर चलने लगता है और इन्ही गुणस्थानकों पर चढ़ता हुआ आत्मा का क्रमिक विकास करते-करते पूर्णता प्राप्त करता है।

आगे के प्रकरण में इस प्रगतिशील आत्मा को किस प्रकार प्रगति के साथ ज्ञान, बोध, शुद्धतर होकर दृष्टि बिन्दु खुलते हैं और किस प्रकार निराग्रही सत्यशोधक बनता हुआ दुर्गुणों को मिटाता हुआ सद्‌गुणों को प्राप्त करता हुआ अपनी दृष्टि पूर्ण रूप से विकसित कर पूर्ण ज्ञान—केवलज्ञान प्राप्त करता है और मोक्ष प्राप्त कर लेता है, इसका विवेचन है। इसमें दृष्टि खुलने, प्रकाश बढ़ने की अपेक्षा से आत्मा की प्रगति का विवेचन किया गया है।

श्री हरिभद्रसूरि प्रणीत

योग दृष्टि समुच्चय

के

डॉ. भगवानदास मनसुखभाई मेहता

एम.बी.बी.एस.

द्वारा किये हुए विवेचन पर आधारित

संक्षेप संकलन

योग

प्रकाश मार्ग

साधारण भाषा में कहें तो मनुष्य को जो अज्ञान रूपो अंधकार में ज्ञान रूपो प्रकाश की ओर ले जावे वही योग है। यह योग ही मनुष्य को कुमार्ग से, दुर्गति से बचाता है, पतन से रोकता है ऐसा प्रधान धर्म है।

इसका अधिकारी वही है जिसकी आत्मा पर मोह का प्रभाव कम होने लगता है और तब ही आत्मविकास आरंभ होता है। ऐसे मनुष्य को अपुनर्बंधक कहते हैं। उसकी आत्मा पर मोह का दबाव कम होकर मोह पर आत्मा का दबाव बढ़ने लगता है। यही आध्यात्मिक विकास का बीजारोपण है, यहीं से योग मार्ग आरम्भ होता है। और उस विकासगामी आत्मा की प्रत्येक प्रवृत्ति में सरलता, उदारता, नम्रता, परोपकार परायणता आदि सदाचार दृष्टिगोचर होने लगते है जो कि विकासगामी आत्मा का बाह्य परिचय देते हैं।

योग का सच्चा अधिकारी बनने के लिये बाह्य त्याग की कोई अनिवार्य आवश्यकता नही है किन्तु सच्चा मुमुक्ष होना ही आवश्यक वस्तु हैं। गृहस्थावास में रहकर भी सच्चा

मुमुक्ष योग साधना कर सकता है। हमने भौतिक और आध्यात्मिक प्रगति में भेद मान रखा है और इससे मनुष्य में एक प्रकार की विकृति और दंभ उत्पन्न होता दृष्टिगोचर होता है। मन्दिर उपाश्रय मे पूर्ण रूप से भक्ति करने वाला मनुष्य निज के घर, दफ्तर या धन्धे मे भिन्न ही रूप धारण करता है। यह सत्य है कि भौतिक जीवन की अवहेलना करके केवल आध्यात्मिक प्रगति के साधक को हैरान ही होना पड़ता है। उसी प्रकार से आध्यात्मिक प्रगति की अवहेलना करके केवल भौतिक प्रगति के पीछे पडने वाले को भी हैरान ही होना पड़ता है। परन्तु मनुष्य को विवेक पूर्वक विचार कर भौतिक जोवन और आध्यात्मिक जीवन का समन्वय करना चाहिये। एक का विचार करते समय दूसरे को भूल जाना यह दंभ है। जीवन में दोनों को स्थान है, इतना ही नही, किन्तु आध्यात्मिक जीवन और भौतिक जीवन मे वैसा ही घनिष्ट सम्बंध है जैसा शरीर और आत्मा में। यह मान कर जीवन व्यवहार करने से ही जीवन को सच्ची प्रगति साधी जा सकती है। योग का अन्तिम हेतु ससार त्याग नहीं है किन्तु आंतरिक और बाह्य स्थिति के बीच का समन्वय ही योग का हेतु है।

उत्तराध्यन सूत्र में तो यहां तक कहा गया है कि बहुत से कुसाधुओं (त्यागियों) की अपेक्षा सयमी गृहस्थ ही उत्तम होता है। श्री हेमचन्द्राचार्य का योग शास्त्र राजर्षि कुमारपाल के लिये ही तैयार किया गया था और एक राजा के जीवन में योग को स्थान है तो गृहस्थ के जीवन में योग कैसे अशक्य हो सकता है।

सदाचार अर्थात् विचार और आचार की पूर्ण शुद्धि ही योग की प्राथमिक भूमिका (प्रथम सीढ़ी) है और विवेक, सदाचार की जड़ है। सत्य और असत्य में स्थाई नित्य और अस्थाई अनित्य में भेद समझना ही विवेक है। अर्थात् प्राप्त हुये काम भोगो में भी विवेकी की इच्छा नही होती अर्थात् वैराग्य विवेक का सहचर है। वैराग्य अर्थात् राग का नाश अर्थात् भौतिक वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा का नाश है। वैराग्य का अर्थ ससार और जगत के पदार्थो का तिरस्कार नही परन्तु उसके सच्चे स्वरूप के ज्ञान से उत्पन्न विरक्ति ही है।

यह याद रखने की बात है कि जगत में मनुष्यो के लिये योग अर्थात् आध्यात्मिक प्रगति की ओर मुडने की आवश्यकता जैसी आज उपस्थित हुई है वैसी शायद जगत में पहले कभी नहीं हुई। अणु बम्बों की शोध को अर्थ हीन बनाने का मार्ग हाइड्रोजन बम्ब खोज निकालना नही है किन्तु मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति ही इन बम्बों को अर्थ हीन बनाने में सफल होगी। योग मार्ग पर चलनेवाले प्रत्येक साधक को इस जीवन को युद्ध की तरह ही मानना चाहिये परन्तु यह युद्ध स्वयं के साथ ही लड़ना है; क्योंकि अपने बल से अपने आप पर विजय पानेवाला ही सुखी होता है। साधक को अपनी इच्छाओं, विषय वासनाओं, कामनाओं और कषायों के साथ युद्ध करना है। उसे यह याद रखना है कि पांच इन्द्रियों, क्रोध, मान, माया, लोभ और सबसे विशेष दुर्जेय अपने मन, इन सबको यदि जीत लिया तो सब कुछ जीत लेने के बराबर है।

मन को वश करना कठिन है पर अशक्य नहीं। एक बार वह वश में कर लिया जाय तो फिर आत्मा की उन्नति में कितना सहायक हो जाता है यह तो साधक स्वानुभव से ही समझ सकता है। यह बात भाषा द्वारा नही समझी जा सकती है।

अपनी इन्द्रियां, क्रोध, मान, माया, लोभ और अपने मन की स्वाभाविक बनावट ही ऐसी है कि प्राणी मात्र को काम, भोग और विषय सेवन के लिये किसी की प्रेरणा की आवश्यकता नही रहती। इसलिये जब साधक को इनकी ओर आकर्षण उत्पन्न हो तो दोष स्त्री में या वैभव में या धन में ढूंढना नही चाहिये, किन्तु यह मानना चाहिये कि दोष स्वयं को इन्द्रियों का, छुपी हुई कामनाओं का और अपने मन का है। स्त्री जाति का दोष नहीं। स्त्री जाती में तो वह माता का स्वरूप भी देख सकता है, बुरा तत्त्व तो स्वयं में ही है अर्थात् साधक को दोष निज के व्यक्तित्व मे ही ढूंढना चाहिये। धन वैभव बुरे नही पर हमारी इन्द्रियां और मन जिस प्रकार उनका उपयोग करते हैं वे दूषित हैं। इसलिये साधक को किसी वस्तु के प्रति तिरस्कार करने की आवश्यकता नही, यह खास ध्यान में रखने योग्य है।

साधक को अपनी इन्द्रियों या निज में रहे कषायों और अपने मन पर सदा चौकीदार बना रहना चाहिये।

साधक को यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिये कि उसके अन्दर एक ऐसी महान् शक्ति का साम्राज्य है जिसकी सत्ता के सामने कोई भी विषय वासना, कामना अथवा इच्छा

टिक नही सकती। मनुष्य योनि से उत्तम और कोई योनि नहीं है। तीन लोक में कोई शक्ति नहीं जो मनुष्य के मुक्ति मार्ग में बाधक हो। उसे नहीं भूलना चाहिये कि उसमें पुरुषार्थ की एक बड़ी शक्ति है जिसके सामने कर्म-प्रारब्ध की शक्ति भी तुच्छ है।

योग मार्ग के प्रवासी को सुख, शान्ति और परम आनन्द मिलते हैं। पर उनकी प्राप्ति के लिये साधक को मूल्य चुकाना पड़ता है। उसे आपत्तियों, दु.खों, व्याधियों, चिन्ताओं प्रतिकूलताओं, इत्यादि प्रसगों के लिये सदा तैयार रहना चाहिये। उन्हें तुम्हारी कमियां कमजोरियां मिटाने के लिए आई हुई समझना चाहिये। भगवान् नेमिनाथ का विवाह मंडप से रथ फेरने के कारण हुई राजुल की वेदना, उसके कल्याण का कारण बनी। इसी प्रकार गौतम गणधर को भगवान् महावीर द्वारा निज के मोक्ष के समय दूर भेजे जाने की वेदना, उनके केवलज्ञान और मोक्ष का कारण बनी।

प्रत्येक मनुष्य को अच्छी तरह समझ कर मन में अंकित कर लेना चाहिये कि सच्चे और शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिये, योग मार्ग पर चलने के सिवाय, आध्यात्मिक प्रगति की साधना के सिवाय अन्य कोई मार्ग नही है। जो इस जगत की प्राप्ति और भोग में सुख मानते है वे सच्चे सुख को नही समझ सकते। उनका सुख दंभ है, गरीब मनुष्यों के शोषण से प्राप्त है, इसलिये नाशवंत और अनित्य है और अन्त में दुःख देनेवाला ही है। शाश्वत सुख का मार्ग भौतिक वस्तुओं की

प्राप्ति या उनके भोग में नहीं है। किन्तु उनका सच्चा स्वरूप समझ कर उन्हें त्यागने में है।

साधक को यह अवश्य समझ लेना चाहिये कि संसार केवल दुःख से भरा ही नहीं है और ऐसा विचार कर उन्हें जगत को धिक्कार योग्य मान कर, निराशावादी नहीं बन जाना चाहिये। ऐसा विचारनेवाले वैरागी नहीं किन्तु मूर्ख हैं। वैराग्य के कारण तो जीवन मे पवित्र शान्ति, दिव्य प्रेम, अखण्ड आनन्द, सुदृढ़ मनोबल तथा शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त होना चाहिये।

डा० भगवानदास मनसुखभाई द्वारा श्री हरिभद्रसूरि रचित योग दृष्टि समुच्चय के विवेचन में श्री मनसुखलाल ताराचन्द मेहता द्वारा लिखित प्रासंगिक वक्तव्य के आधार पर।

आत्मविकास

अंधकार से प्रकाश को ओर

आत्मा अनादिकाल से अनेक योनियों में जन्म मरण करता हुआ भय भ्रमण के चक्र में भ्रमण करता रहता है। इस भव भ्रमण का कारण कर्मावरण अर्थात् कर्म मैल है। यह कर्मावरण राग, द्वेष, मोहादि अशुभ भावों के कारण आत्मा के बंधते रहते है और समय आने पर फल देकर छूटते रहते है। पहाड़ से निकल कर जब नदी समुद्र की ओर बढ़ती है तो उसमें बहते पत्थर आपस में रगड़ खाते २ गोलाकार हो जाते हैं, उसी प्रकार भवचक्र में फिरते आत्मा के परिणामों की, शारीरिक और मानसिक दुःखों की संवेदना (अनुभवों) के कारण शुद्धता और कोमलता कुछ बढ़ने लगती है, भावमल अर्थात् मोहादि अशुभ भावों की तीव्रता कुछ कम हो जाती है। इसके परिणाम स्वरूप कर्मों की स्थिति अथवा गाढ़ता कम हो जाती है, तब राग द्वेष की तीव्रतम ग्रन्थी (गांठ) को काटने, भेदन करने की योग्यता बहुत अंशों में प्राप्त हो जाती है, इस अज्ञान पूर्वक, दुःख संवेदनाजनित अति अल्प आत्मशुद्धि को, अति अल्प निर्मल परिणामों को 'यथाप्रवृत्तिकरण' कहते है।

इस स्थिति से आत्मा अनेक बार पुनः नीचे गिर जाता

है और उठ जाता है। पर कभी जब और भी अधिक आत्म-शुद्धि तथा वीर्योल्लास (पुरुषार्थ) को मात्रा बढ़ जाती है, तब राग, द्वेष, मोहादि की उस दुर्भेद ग्रन्थी को आत्मा भेद कर देता है, काट देता है, अर्थात् उसके परिणामों में राग-द्वेष की मन्दता आ जाती है। इस ग्रंथी भेद करनेवाली आत्मशुद्धि को अर्थात् निर्मल परिणामों को अपूर्वकरण कहते हैं। यह अपूर्व इसलिये कही जाती है; क्योंकि अनादिकाल से संसार में भ्रमण करते रहने पर राग, द्वेष और कर्मफल की इतनी हलकी स्थिति, इतने शुद्धकरण-परिणाम पहले कभी नहीं हुये, यह शुद्धता, निर्मलता पहली बार ही प्राप्त हुई है। इस स्थिति पर पहुँचने पर फिर पतन नहीं होता किन्तु आगे शुद्धता, निर्मलता की प्रगति ही होती है।

इस अपूर्वकरण के बाद आत्मशुद्धि और वीर्योल्लास की गति और मात्रा कुछ अधिक बढ़ती है और आत्मा मोह की प्रधानभूत शक्ति दर्शनमोह पर जो सत्य ज्ञान का बाधक है, विजय प्राप्त करता है। इस आत्मशुद्धि अर्थात् उच्चकरण परिणाम को 'अनिवृत्तिकरण' कहते है, इस आत्मशुद्धि पर पहुँचकर आत्मा पीछे नहीं हटता है।

इन बातों के समझने के लिये एक दृष्टांत दिया जाता है। एक वस्त्र है जिसमे मैल है और साथ में कुछ चिकनाहट भी है। मैल दूर करना इतना कठिन नहीं जितना चिकनाहट दूर करना। चिकनाहट दूर करने में मैल दूर करने की अपेक्षा अधिक परिश्रम की आवश्यकता होती है। ऊपर २

का मैल दूर करने के समान 'यथाप्रवृत्तिकरण' है। चिकनाहट दूर करने के लिये अधिक श्रम के समान 'अपूर्वकरण' है और चिकनाहट दूर होने पर जो थोड़ा मैल रह जाता है उसके दूर करने के परिश्रम के समान 'अनिवृत्तिकरण' समझना चाहिये। जिसके कारण सम्यक्त्व प्राप्ति और तत्पश्चात् आगे की प्रगति का मार्ग सरल हो जाता है।

अनिवृत्तिकरण पर पहुँचकर आत्मा भ्रान्ति से मुक्त होकर स्वरूप दर्शन कर लेता है। वह आत्मा और अनात्मा अर्थात् पुद्गल का भेद, दोनों में क्या अन्तर है, यह समझने लग जाता है। कर्मफल क्या है ? क्यों आकर (आश्रव होकर) आत्मा के चिपक जाता (बंध हो जाता) है ? ऐसा होने से कैसे रोका जा (सवर हो) सकता है ? और बंधे हुए कर्मो से कैसे छुटकारा (निर्जरा) पाया जा सकता है और कर्म मैल के छूटने से आत्मा की कैसी स्थिति हो जाती है, मैल से मुक्त होकर शुद्ध परमात्मस्वरूप पा जाता है। यह ज्ञान केवल पुस्तक द्वारा ऊपरी ज्ञान से नहीं होता है किंतु ससार के अनुभवों द्वारा वह विवेक प्राप्त कर अन्तरग ज्ञान द्वारा वह समझने लगता है और श्रद्धापूर्वक कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का वास्तविक अंतर समझने लगता है। यही अन्तरात्म भाव प्राप्त करना है। अब वह सर्व प्रथम आध्यात्मिक शान्ति का अनुभव करता है। उसकी दृष्टि आत्मस्वरूपोन्मुख होने के कारण विपर्यास रहित होती है। यही सम्यग्दृष्टि है, यही सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व प्राप्ति के वाद मनुष्य का दृष्टिकोण ही वदल

जाता है। वह एकान्त दृष्टि न होकर अनेकान्त दृष्टि वाला, समन्वय दृष्टिवाला हो जाता है। वह प्रत्येक बात को भिन्न भिन्न दृष्टि से देखता है। वह सत्य को अनेक पहलू से देखता है। वह मताग्रही न होकर निष्पक्ष दृष्टि से देखने वाला हो जाता है। उसकी प्रवृत्तियाँ परमार्थ दृष्टिपूर्ण, जग कल्याण-कारी रूप होती है। वह सब प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव रखता हैं, दूसरों के गुणो को देखकर हर्षित होता है अर्थात् उसमें प्रमोद गुण प्रकट होता है। दुखियों को देख कर उसमे करुणाभाव जागृत होता है। और विपरीत वृत्तिवालों को समझाने पर भी उनके सन्मार्ग पर नही आने से क्रुद्ध न होकर माध्यस्थ्य भाव अंगीकार करता है। उसकी मनोवृत्ति गंभीर होती है और वह सबको सन्मार्ग पर चलने को प्रेरित करता है। उसमें निम्नांक लक्षण पैदा हो जाते हैं :—

(१) प्रमोद-शान्ति, क्रोध त्याग (२) संवेग-मोक्ष ही अन्तिम ध्येय है ऐसा चित्त में निर्णय (३) निर्वेद-सासारिक पदार्थों से अरुचि (४) आस्तिक्य-शुद्धदेव (वीतराग) शुद्ध गुरु (पूर्णत्याग गुरु) और शुद्धधर्म-आत्म शुद्धि करनेवाले धर्म पर श्रद्धा और (५) अनुकपा-दीन दुखी प्राणियों पर दया।

सम्यक्त्व प्राप्त होने पर आत्मविकास की गति बढ़ जाती है, परिणाम और भी शुद्ध होने लगते है, रागद्वेष का बल और भी कम होने लगता है। चारित्र मोहनीय कर्म की काल मर्यादा कम होकर अल्पकालीन स्थिति रह जाती है। तब वह देश विरति अर्थात् भाव श्रावक (वास्तविक श्रावक) बनता है और आत्मविकास चालू रखकर, परिणाम और

अधिक निर्मल कर चारित्र मोहनीय कर्म की स्थिति कम हो जाने से भाव साधु, भाव मुनि (वास्तविक मुनि) बनता है। इस प्रकार आत्मा अपने भाव अर्थात् परिणाम शुद्ध करता हुवा, कर्मभार हलका करता हुवा अनुक्रम से उपशम श्रेणी (कर्मो की शक्ति को दबाना) क्षपक श्रेणी (कर्मों का जड़ मूल से क्षय करना) प्राप्त करता हुवा केवलज्ञान प्राप्त कर अन्त में मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यह सब उसके पुरुषार्थ पर निर्भर है।

यह तो स्पष्ट है कि आत्मशुद्धि, आत्मविकास जिसे हम धर्म भी कहते है, उसका आधार केवल चित्त के परिणामों की शुद्धि, मन की निर्मलता है। और यह केवल राग, द्वेष मोह आदि कुभावनाओं को घटाने से प्राप्त होता है। जो भी धार्मिक क्रियाएं, अनुष्ठान इत्यादि इन कुभावनाओं को घटाने और चित्त को तथा परिणामों को निर्मल करने मे सहायक हों वे ही सार्थक है अन्यथा वे केवल लौकिक मूल्य को लौकिक प्रथाओं से अधिक नही है। उदाहरणार्थ देव दर्शन या पूजन, उच्चादर्शो की ओर प्रेरणा करने के लिए है, व्रत पच्चक्खाण मन को शिक्षा देकर स्वच्छंदता से हटाकर नियंत्रण में लाने को है, जिससे वह कुमार्ग में न जाय, कुविचारो से बचे। सामायिक का उद्देश्य है मन की उच्छृंखलता मिटाकर शिक्षित करना जिससे प्रतिकूलताओ से घबरा कर दुखी न हो और अनुकूलता से मस्ती मे आकर बेभान न हो जाय और प्रत्येक दशा मे मन का सन्तुलन नष्ट न होने दे, समभाव, माध्य-

स्थ्य भाव रखे और प्रतिक्रमण अपनी भूलों को सुधारने के लिये है। इस दृष्टि को सामने रखे बिना, यदि लोक प्रचार, कीर्ति या धन वैभव, स्वर्ग आदि प्राप्ति के उद्देश्य से जो भी यथा कथित क्रिया की जाती है, वह भव भ्रमण बढ़ाने हेतु ही बन सकती है, आत्म कल्याण नहीं कर सकती। उपाध्याय श्रीयशोविजयजी के शब्दों में:—

दुर्बल, नग्न, ने मास उपवासी, जो छे माया राग रे।
तोपण गर्भ अनन्ता लेशे, बोले बीजू अंगरे॥

आत्मा की प्रगति का यह विवेचन दार्शनिक या सिद्धांतिक परिभाषा मे किया गया है। साधारण भाषा में परिणामो को हम मनोभाव कहेंगे। इन मनोभावों पर ही मनुष्य की दृष्टि अर्थात् दृष्टि बिन्दु, विवेक, बोध, समझ, आचरण इत्यादि पर आधारित है, यह तो प्रत्येक व्यक्ति के जीवनानुभव की बात है। संसार में मनुष्यों के मनोभाव भी अनेक प्रकार के, विभिन्न और विचित्र होते है। इसलिये उनके आचरण भी अनेक तरह के होते है। अब हम इन विभिन्न मनोभावों पर आधारित विभिन्न दृष्टि बिन्दु और आचरणो पर विवेचन करेंगे। यह विभिन्नता ही मनुष्य की आत्मशुद्धि और आत्मविकास मे प्रगति का माप दण्ड है।

मनोभावों और आचरण की विभिन्नता

संसार में सब से बड़ी संख्या उन लोगों की है जो जीवन में स्वार्थसाधन को ही अपना अन्तिम ध्येय मानते है। उनके लिये केवल धन, सत्ता, अधिकार ही सब कुछ हैं जिनके बल पर वे ऐश-आराम, भोग विलास व इन्द्रिय सुख प्राप्त कर सके। इनकी प्राप्ति के लिये कोई भी कार्य या अकार्य ऐसा नहीं जिसके लिये उनके मन मे कोई हिचकिचाहट हो। उनके कृत्यों का दूसरों पर कुछ भी असर पड़े, दूसरों का कुछ भी अहित हो, परवाह नहीं। वे धन, भोग इत्यादि को प्राप्त कर अभिमान में अंधे हो जाते है और दूसरों के साथ स्पर्धा में उतर जाते है।

मनुष्य की बुद्धि का विकास हुवा, विज्ञान की प्रगति हुई, नये नये आविष्कार हुए, औद्योगिकरण हुवा पर उसका उपयोग जनता के शोषण में हुवा। जीवो और जीने दो के उच्च सिद्धांत की जगह बलवान निर्बलों का नाश करो का सिद्धान्त स्वीकार हुवा, सहयोग और सेवा भाव की जगह प्रतिद्वंदता को महत्व मिला। प्रत्येक क्षेत्र में यही वृत्ति फैली, उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद आदि शोषण के हथियार बने, शोषकों में प्रतिद्वदता हुई। युद्ध के कारण उत्पन्न हुए मनुष्य समाज में असमानताएं और विषमताएँ उत्पन्न हुई शोषण के विरुद्ध प्रतिशोध की भावना उत्पन्न हुई और संघर्ष का

जन्म हुआ। विज्ञान ने अणुबम इत्यादि को जन्म दिया और उस संघर्ष ने भीषण युद्ध और संसार के विनाश के वातावरण को जन्म दिया। यह सब खेल हम अपनी आंखों के सामने देख रहे हैं। इन सब की जड भोग लिप्सा और स्वार्थाधता के सिवाय और कुछ भी नहीं है। हम देखते हैं कि त्याग और अहिंसा प्रधान भारत भी इस चक्कर में गिर गया और उसके मनोभाव भी वैसे ही कलुषित होते जा रहे है। मनुष्य यदि अपनी बुद्धि, ज्ञान, विज्ञान और आविष्कारों का उपयोग स्वार्थाधता में न कर लोककल्याण मार्ग में करता तो संसार का स्वरूप कितना सुख शान्ति पूर्ण होता। ऐसी दशा में मनुष्य की इस बुद्धि को कुबुद्धि कहें, ज्ञान को कुज्ञान कहें, दृष्टि को कुदृष्टि कहें या और कुछ। मनुष्य की दृष्टि खुली है या अंध, उसके सामने प्रकाश है या अन्धकार, इसका उत्तर प्रत्यक्ष है। यह सब मनुष्य के कुभावों को और जैन परिभाषा मे कहें तो रागद्वेष और मोह की तीव्रता का परिणाम हैं जिसके कारण वह प्रकाश नही देख सकता, सत्मार्ग नही देख सकता, उसकी आँखें वन्द है, उसकी दृष्टि ओघ दृष्टि है और ससार की प्राय: सारी प्रजा इसी अधेरे में पड़ी अपना जीवन बिता रही है। इस प्रकार की जनता की अवस्था 'यथाप्रवृत्तिकरण' से पहले की अवस्था है।

ससार मे अल्प संख्या ऐसे लोगों को है जो विलकुल स्वार्थ मुक्त तो नहीं है पर एकदम स्वार्थी भी नही है। ऐसे लोगों में भी अल्प, अल्पतर और अल्पतम स्वार्थवालों की कई श्रेणिया होती है। स्वार्थ कम होने से स्वार्थ पर आधा-

रित दोष जिनका समावेश हम राग द्वेष जैसे मोटे शब्दों में कर सकते हैं कम होते जाते है और इनके विपरीत जो सद्गुण है प्रकाश मे आते जाते है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर कम स्वार्थ श्रेणियों में दृष्टि, विवेक, ज्ञान, समझ, बोध का उत्तरोत्तर विकास पाया जाता है। उन श्रेणियो के व्यक्तियो की आंखें खुलती जाती हैं, प्रकाश बढ़ने लगता है और तदानुसार आचरण भी उच्च और शुद्ध होता जाता है और चित्त मे शान्ति उत्पन्न होती जाती है। वे उच्च श्रेणी के लोग अधिकाधिक समझने लगते है, कि आखिर इन्द्रिय भोग, धन सत्ता ही सब कुछ नहीं है, इनके द्वारा सुख शीघ्र दु:ख में परिणत होता जाता है, स्थाई शांति नही देता, न सदा बनी रहती है। इनकी वुद्धि जागृत होती है, जिसके कारण उनमे आत्मसंयम को, अपने आचारो और विचारो को नियन्त्रित करने को और अपनी इच्छाओ को मर्यादित करने की भावना उत्पन्न होती है। जिससे विरोध और संघर्ष के अवसर कम होकर जीवन में शान्ति के अवसर अधिक मिलते है। वे समझने लगते है कि उनका कोई भी कार्य जिससे अन्य किसी को दु:ख हो या जिससे किसी का अहित हो, उसकी प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुए विना नही रह सकती। इसलिये वे अहिंसा, संतोष, चित्त की शुद्धि आदि का अभ्यास करते हैं, परोपकार, त्याग, सेवाभाव के मार्ग अपनाते है, चित्त में शांति और स्थिरता लाने का प्रयास करते है, सन्मार्ग जानने, ससार की वास्तविकता, सुख दु:ख के कारण इत्यादि की बातें जानने की उनमें जिज्ञासा उत्पन्न होती है। उस जिज्ञासा को संतुष्ट करने

के लिये वे उच्च चारित्रवाले, आदर्श जीवनवाले व्यक्तियों की खोज करते हैं, उनसे सम्पर्क स्थापित करते हैं। उनके उपदेशों का मनन करते है, उनके विचारों पर चिन्तन करते हैं, उनके साहित्य को गहराई से पढ़ते है और समझने की चेष्टा करते है। इन सब बातों से उनके भाव निर्मल निर्मलतर होते जाते है वे निराग्रही होते जाते है (Open eyes and open mind) और सब चीजों का सही मूल्यांकन करने की शक्ति प्राप्त करते हैं। इस निर्मल जीवन के कारण वे उत्तरोत्तर चित्त की शाति का अनुभव करने लगते है। इन उच्च उच्चतर श्रेणियों मे आगे चलकर ऐसी श्रेणी होती है जिसमें मानों उस स्थिति पर पहुँचे हुए व्यक्ति की आँखे पूरी खुल जाती है, उन्हें पूर्ण प्रकाश प्राप्त हो जाता है। वे संसार की वास्तविकता को समझने लग जाते है।

आत्मा तथा शरीर का भेद, दोनों का अन्तर, दोनों की क्रिया, प्रतिक्रिया सुख दुःख के कारण, दुःख से मुक्ति के उपाय इत्यादि जो सार की बातें है, तत्त्व है वे उन्हे अच्छी तरह समझने लग जाते है। उनका यह ज्ञान उन्हें सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है और वे यथाशक्ति उत्साह के साथ प्रगति पथ पर अग्रसर होते है। राग, द्वेष, मोहादि की अन्तिम कड़ियों को काटने के लिये, दुःखों के कारणों को विध्वंस करने के लिये अपने मनोभावों को, परिणामों को और आचरण को शुद्ध शुद्धतर करते हुए अपनी कमजोरियों से मुक्त होते हुए पूर्ण सुख—परमात्मपद प्राप्त कर लेते है।

पहले हमने अन्धकार में डूबी हुई ससार की अधिकांश जनता के दृष्टिबिन्दु का विवेचन किया है। उनकी दृष्टि ओघ दृष्टि और सद्दृष्टिहीन कहलाती है। तत्पश्चात् उन लोगों के विषय में लिखा गया है जिनकी दृष्टि बन्द नही है पर तरतम भाव से थोड़ी अधिक खुली होकर पूर्ण खुली है और पूर्ण प्रकाश मे देख रही है। और मनुष्य को अधिकाधिक सुख शान्ति प्राप्त कराती हुई शाश्वत पूर्ण सुख–मोक्ष की ओर ले जाती है। इन दृष्टियो को हम सद्दृष्टि या योग दृष्टि कहेंगे और इनका विवेचन आगे जैन परिभाषा मे किया जायेगा।

आत्म विकास के भेद पर आधारित आठ योग दृष्टियाँ

राग द्वेष की घटती हुई मात्रा या परिणामों की बढ़ती हुई शुद्धता की अपेक्षा से योग दृष्टि के असंख्य भेद हो सकते है, परन्तु आसानी से समझ में आ सके इस अपेक्षा से आठ भेद किये गये है। वे आठ भेद इस प्रकार है:—(१) मित्रा (२) तारा (३) वला (४) दीप्रा (५) स्थिरा (६) कांता (७) प्रभा और (८) परा।

(१) मित्रा दृष्टि

यह प्रथम दृष्टि है। राग द्वेष कुछ हलके होने के कारण इस अवस्था में जो वोध होता है, उसको उपमा तिनके के अग्निकण (चिनगारी) से दी गई है जिसका प्रकाश वहुत कम और क्षणिक होता है, उसके प्रकाश मे वस्तु स्पष्ट रूप मे नहीं देखी जा सकती है। इस स्थितिवाला मनुष्य अच्छी तरह नही समझ सकता कि क्या इष्ट और क्या अनिष्ट है। उसे अच्छे विचार आते भी है तव भी वे क्षणिक ही है, इसलिये उनका उसके आचरण पर स्थाई प्रभाव नही पड़ता है। वह देखा देखी कुछ धार्मिक क्रियाए करता है तव भी वे प्रथा रूप ही है, वे उसके हृदय को स्पर्श नही करती है। इतना होने पर भी उसे कुछ लाभ तो अवश्य होता है इससे

उसके हृदय में एक प्रकार से आत्मविकास का, धर्म का बीजारोपण तो हो ही जाता है। वह आत्म शिक्षा के लिये, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य (सदाचार) और अपरिग्रह, (स्वार्थ, लोभ पर मर्यादा) इन यमों का, व्रतों का यथाशक्ति पालन करने की चेष्टा करता है। शुभ कार्यों में रुचि उत्पन्न होकर उनमें खेद अर्थात् अरुचि मिटती है और अद्वेष गुण जागृत होने लगता है अर्थात् वह सत्यमार्ग की ओर चलने लगता है, समस्त प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव, अद्वेष भाव, निर्वैर भाव रखने लगता है। इस प्रकार यद्यपि सम्यक्त्व से वह अभी बहुत दूर है और मिथ्यात्वी है तब भी, वह प्रगति के पथ पर है। उसमें उन्नति के, प्रगति के बोज, योग बीज आरोपण होने लगते है, राग द्वेषादि घटने लगते है। दुखियों के प्रति अत्यंत दया, गुणवंतों से अद्वेष, प्रेम और सर्वरूप से उचित जीवनयापन और परिणामों में भी निर्मलता आने लगती है जिससे उसके परिणाम 'यथाप्रवृत्तिकरण' द्वारा अपूर्वकरण कर ग्रथी भेद के निकट पहुँच रहे हैं।

(३) तारा दृष्टि

यह दूसरी सीढी है, मित्रा दृष्टि की स्थिति से कुछ ऊपर उठे हुये मनुष्य अर्थात् वे मनुष्य जिन पर राग द्वेष का प्रभाव अपेक्षाकृत कुछ हलका हो गया है, उनकी दृष्टि तारा दृष्टि कहलाती है। इसकी उपमा उपलों (छाणो) की चिनगारी से दी गई है, जिसका प्रकाश तृण अग्नि से कुछ अधिक होता है या यों कहे कि इस स्थिति के मनुष्य की आँखे कुछ अधिक खुली हुई हैं पर इतनी नही कि जिससे वस्तु उसे स्पष्ट दिखलाई दे,

ऐसा मनुष्य, प्रथम मित्रा दृष्टि वाले की अपेक्षा कुछ अधिक ज्ञान, विचार शक्ति, बोध रखता है पर उस बोध में स्थायीत्व नहीं होता। उत्तम विचार आते हैं और चले जाते हैं। वह मित्रा दृष्टिवाले की अपेक्षा आत्मशिक्षा के लिये अधिक प्रयत्नशील है, अहिंसादि यमों की अपेक्षा अधिक उन्नतकारी नियमों का पालन करता है। वह मन को अधिक शुद्ध और प्रामाणिक रखने का प्रयास करता है। शौच संतोष, तप (आत्म-अनुशासन) स्वाध्याय, (उच्च साहित्य धर्मसाहित्य का अध्ययन) तथा ईश्वर अर्थात् सर्वोपरी महान् शक्ति या व्यक्ति का ध्यान करता है उस पर अपना मन केन्द्रित करता है और इस प्रकार कलुषित भावों को चित्त मे हटाकर परिणाम अधिक निर्मल करने की चेष्टा करता है। उसका उद्वेग दोष दूर हो जाता है अर्थात् सन्मार्ग साधक क्रिया करने में चित्त की उद्विग्नता, परेशानी मिटने लगती है। साथ ही उसमें जिज्ञासा उत्पन्न होती है। उचित अनुचित पहचानने की, सत्यमार्ग जानने की, तत्त्व अर्थात् सार की बात क्या है यह जानने की, किस प्रकार का आचरण करना चाहिये इत्यादि बातो के जानने की उत्कठा पैदा होती है। उसको आत्मोन्नति कारक साहित्य पर रुचि होती है, शुद्धाचरण वाले गुणवंतो पर भक्ति, उचित आचरण से प्रेम, अनुचित आचरण त्यागने की इच्छा होती है। उसे अपने अवगुणों पर, कमजोरियों पर खेद होता है। अपनी आत्मा के उत्थान के लिये सांसारिक आकर्षणों से वैराग्य होने लगता है। वह अनजान में भी अनुचित क्रिया नहीं करता, संसार के दु:खों से भयभीत नहीं होता और कर्तव्य पालन में दृढ़ रहता है, कभी नहीं चूकता है।

(३) बला दृष्टि

चित्त की निर्मलता बढ़ने से आँखे कुछ और भी अधिक खुलती हैं। ऐसी दृष्टि बला दृष्टि कहलाती है। यहां अंधेरा कुछ समय कम हो जाता है और प्रकाश कुछ बढ़ता है। बोध समझ, ज्ञान कुछ अधिक बढ़ता है, और अधिक समय तक रहता है। इस प्रकाश की उपमा काठ (लकड़ी) की चिनगारी से दी गई है। इस बोध का प्रभाव अधिक टिकाऊ होने के कारण जीवन पर भी उसका अधिक स्थाई प्रभाव होता है। स्मरणशक्ति अधिक होती है इसलिये अपनी आत्मोन्नति के लिये अधिक पुरुषार्थ करता है। शरीर की चंचलता को दूर कर स्थिरता लाने का प्रयास करता है अर्थात् योग क्रिया में 'आसन' क्रिया अपनाता है। पर भाव को छोड़कर स्व-भाव आत्मभाव में आने की चेष्टा करता है। अपने चित्त की डावाडोल वृत्ति मिटाकर चित्त को विक्षेप रहित करता है, और सत्क्रिया मे उसका मन लगने लगता है। उसके अज्ञान संस्कार दूर होते जाते है और ज्ञान संस्कार पैदा होने लगते हैं तथा तीव्र कषाय उसको नहीं सताते। उसमें विषयों का आकर्षण कम होने लगता है। सुख दुःख, हर्ष शोक उसके चित्त में उथल पुथल नही मचाते हैं, विकथाएं चित्त को आकर्षित नहो करतो हैं, उसमें तत्त्वश्रुषागुण उत्पन्न हो जाते है। उसमें सत्य तत्त्व जानने की कि मैं कौन हूँ, मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है और संसार क्या है इसके चक्कर में मैं कैसे गिर गया हूँ, सुख दुःख क्यो होते है, दुःखों से छुटकारा किम प्रकार हो सकता है इत्यादि जानने, समझने

की तीव्र इच्छा उत्पन्न हो जाती है। इन सबका ज्ञान देने वाले गुरु को वह खोज करने लगता है। उसकी प्रकृति स्वभाव ही ऐसे हो जाते हैं कि उसमें असत् तृष्णा पैदा ही नही होती और वह सदा सर्वत्र सुख शान्ति का ही अनुभव करता है। वह आत्मसंतोष का अनुभव करता है। कैसी भी परिस्थिति, कैसा ही संयोग, कैसा हो वातावरण क्यों न हो, वह घबराता नही है, किन्तु सुख शान्ति का ही अनुभव करता है। वह कोई कार्य भाग दौड में नहीं करता किन्तु सावधानी से चित्त की स्थिरता से करता है। धार्मिक क्रिया भी एकाग्रता पूर्वक करता है। उसके जीवन संस्कार ही निर्मल और शांतिदायक बन जाते है। मित्रा दृष्टि में जो योग बीज प्राप्त हुए थे वे अब अंकुरित होने लगते हैं, इसकी तत्त्व श्रवण सुश्रुषा ऐसी बलवती हो जाती है मानो बोध रूप जलप्रवाह लगातार आता ही रहता है। ऐसी सुश्रुषा बिना सब पढा सुना निरर्थक हो जाता है। सुश्रुषा होने से शुभभाव में प्रवृत्ति होती है और कर्मक्षय होकर आत्मा पवित्र होने लगती है। आत्मा प्रगति पथ पर और आगे बढती है।

(४) दीप्रा दृष्टि

राग द्वेष और भी हलके हो जाने, कर्ममल कम हो जाने तथा चित्त के परिणाम अधिक निर्मल हो जाने से, इस स्थिति वाले मनुष्य की दृष्टि को, बोध को दीपक के प्रकाश की उपमा दी गई है। चिनगारियो के प्रकाश से जैसे दीपक का प्रकाश अधिक स्थाई और स्पष्ट होता है उसी प्रकार इस दृष्टि

वाले का बोध भी पूर्व उल्लेखित तीन दृष्टियों को अपेक्षा अधिक स्थाई अधिक सामर्थ्यवान तथा प्रेरक होता है तथा आचरण को भी शुद्ध और ऊंचा करता है। परन्तु जिस प्रकार दीपक का प्रकाश, पर-वस्तु अर्थात् तेल पर अवलम्बित है उसी प्रकार यह वोध भी परावलम्बित है, निज की आत्मा पर अवलम्बित नहीं है इसलिये वह पूर्ण रूप से स्थाई नही है। जैसे हवा से दीपक वुझ सकता है वैसे वह भी बाहरी कारणों से चला जा सकता है। यहां भी सब क्रियाएं भाव शून्य, केवल द्रव्य रूप ही होती हैं। इस दृष्टि तक मिथ्यात्व गुणस्थानक ही है यद्यपि उसकी अन्तिम सीमा है। यहाँ अति अल्प मिथ्यात्व होता है। इस दृष्टि में प्राणायाम योग होता है, अर्थात् वह बाह्य भाव छोड़कर अतर भाव की ओर जाता है और उसे स्थिर करता है। वह प्राण से भी धर्म को श्रेष्ठ मानता है और प्राण पर संकट आने पर भी धर्म अर्थात् उच्चादर्श को नहीं छोड़ता। उसमें उत्थान दोष मिट जाता है अर्थात् सत्मार्ग पर जाने से उसका मन उत्थान नहीं होता, उठ नहीं जाता है, चित में अखण्ड शाँत प्रवाह चलता रहता है।

उसमें तत्त्व श्रवणगुण उत्पन्न हो जाता है, तत्त्व की बात सुनने में तत्पर रहता है, यह उसे प्राणों से भी अधिक प्रिय लगती है। उसका चित्त आशय उज्जवल हो जाना है, वह सद्परिणामी हो जाता है। वह तत्त्वरूप निर्मल जल पाने का पात्र हो जाता है। उसके अवगुण दूर होकर सद्गुणो का प्रादुर्भाव होने लगता है, और वह तत्त्व श्रवण का पात्र बन जाता है

और सद्गुरु से धर्म सुनने को उत्कंठित हो जाता है। इतना होने पर भी उसे अभी सूक्ष्म बोध नहीं होता। अभी कर्ममल यथेष्ट मात्रा में हलका नहीं हुआ है। अभी ग्रंथी भेद नही हुआ है, राग द्वेष की कठिन गांठ नहीं कटी है। उसे अनिवृत्तिकरण होता है, फिर वह अपूर्वकरण कर तत्पश्चात ग्रंथी भेद कर वह सम्यकत्वाभिमुख होता है।

(५) स्थिरादृष्टि

यह पांचवीं दृष्टि, ग्रंथी भेद अर्थात् राग द्वेष इत्यादि के परिणाम स्वरूप तीव्र कर्मगांठ के कट जाने पर सम्यग्दृष्टि प्राप्त होने पर होती है। इसकी उपमा रत्न के प्रकाश से दी गई है। रत्न का प्रकाश पराधारित नही होता तथा स्थाई होता है, उसी प्रकार इस दृष्टि में बोध आत्मानुभव आधारित और स्थाई होता है। वह समझने लगता है कि आत्मा और शरीर में क्या भेद है। आत्मा स्वयं एक शुद्ध ज्ञान मय सदा रहनेवाली अरूपीवस्तु है। संयोग से जो पुद्गल परमाणुओ का बना शरीर है, वह वास्तव में मै नहीं हूँ। पर वह तो पर वस्तु है, बंधन है, सयोग से आत्मा से संबंधित है। पर निजका कल्याण तो इस पर-वस्तु से मुक्त होने में ही है। यह बोध अनुभवाधारित होने से स्थाई होता है, अल्पकालीन या डगमगाता हुआ नहीं होता। वह दृढता और निर्भीकता के साथ इस श्रद्धा पर निशंक होकर जमा रहता है। उसका यह ज्ञान और विश्वास दृढ़तर होता ज़ाता है। वह स्वावलम्बी होने के कारण स्थाई होता

ह। वह कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभादि) के शान्त होने के कारण स्वभाव को शीतल करता है, और दूसरों के लिये भी शान्ति का कारण होता है। इससे चित्त में प्रसन्नता होती है। यह सर्व मंगल और कल्याण का कारण है।

इस दृष्टि में प्रगति के पथ पर आगे बढ़ती हुई आत्मा प्राणायाम योग से उच्च योग—अंगप्रत्याहर अंगीकार करती है, अर्थात् चित्त को विषयविकार से दूर खेंचती है, इन्द्रियों के चंचल घोड़े पर लगाम लगाती है। भ्रान्ति नामक चित्त दोष मिट जाता है और कुछ भी सत्कार्य या क्रिया वह करता है पूर्ण विश्वास के साथ और निःसन्देह मन से करता है।

इस दृष्टि में सूक्षम बोध गुण प्रकट होता है। वह सात तत्त्वों को अर्थात् मुख्य महत्त्व पूर्ण तत्त्वों को जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष विश्वास और पूर्ण श्रद्धा के साथ समझता है; क्योंकि उसका ज्ञान आत्मानुभव आधारित है। स्थिरा दृष्टिवंत सम्यक्त्वी होता है और उसका गुणस्थानक ४-५-६ में है।

६—कांता दृष्टि

इस छठी दृष्टि में बोध पिछली दृष्टि से अधिक प्रकाशवान, गूढ़, ध्रुव और स्थिर है। इसलिये इसकी उपमा आकाश में प्रकाशमान तारे से दी गई है। इस दृष्टिवाला सम्यग्दृष्टि पुरुष का चित्त सदा श्रुत धर्म (शुद्ध धर्म शास्त्र) में ही लीन रहता है। वह पूर्व कर्मों की प्रेरणा से ससार संवधी कार्य करता रहता है तब भी उसका चित्त सदा शुद्ध आत्म विकास करनेवाले धर्म में ही लगा रहता है। वह जो कुछ भी

व्यवहारिक कार्य करता है अनासक्तभाव से करता है। उसका मन, उसकी भक्ति उसका प्रेम नो श्रुत धर्म अर्थात् ज्ञानो के उपदेश में ही लगा रहता है। इसका बोध आत्मानुभवजन्य होने के कारण उद्योतमय होता है। धर्म के मर्म रूप रहस्य को वह अच्छी तरह जानता है। आत्मा और पुद्गल के भेद को, स्व-भाव और पर-भाव को गहराई से समझता है। इससे उसको परम शान्ति मिलती है। पिछली दृष्टि में वह भ्रान्ति से मुक्त हो चुका है, अब पर-भाव में से (सांसारिक आकर्षणों मे से) अपनी आत्मा को खेंच लेता है। अपनी आत्मा को मोह मूर्छित नही होने देता, किन्तु आत्मपरिणति में ही रहता है। पौद्गलिक विषय भोगों से दूर भागता है और विषय भोगों से अपनी इन्द्रियो को खेंच लेता है, हटा लेता है। इस प्रकार कर्म आश्रव से छूट कर संवर दशा प्रगट होती है। ऐसे उदार गुण सम्पन्न सम्यग्दृष्टि पुरुष को देखकर अन्य प्राणियों का उस पर स्वाभाविक प्रेम हो जाता है, वह जनप्रिय बन जाता है।

इस दृष्टि में छठा योगअंग 'धारणा' प्राप्त होता है। धारणा का अर्थ है चित्त को मर्यादित क्षेत्र में बांधे रखना। यह मन को चंचलता दूर कर एक ध्येय में प्रभु भक्ति अथवा शुद्ध आत्मचिन्तन में लगाता है। अर्थात् मन को विषय भोग से हटाकर आत्मस्वरूप में लगाता है। इससे आत्मधारणा वाला सम्यग् दृष्टि ज्ञानी पुरुष पर-परिणति छोड़कर अखण्ड प्रचण्ड ज्ञान मय स्थिति प्राप्त करता है। ऐसा पुरुष आत्म प्रगति में सजग रहता है।

इसमे अन्य मुद दोष नहीं होता, अर्थात् केवल आत्मा के सिवाय अन्य किसी बात में उसे आनन्द नहीं आता। उसे केवल आत्मनिमग्नता में ही आनन्द मिलता है।

वह गुणों में भी आगे बढ़ता है। पिछली दृष्टि मे सूक्षम बोध उत्पन्न होता है ? इसमे मीमाँसा गुण प्राप्त होता है, अर्थात् वह अपने सूक्षम बोध पर चिन्तन करता है, मनन करता है, उहापोह करता है, जिससे उसके मनोभाव शुद्ध शुद्धतर, उच्च उच्चतर हों। इस प्रकार आत्मकल्याण के मार्ग पर वह बढ़ता है। वह संसार से ऊपर उठकर केवल धर्म में, आत्मकल्याण में ही अपना मन लगाता है। वह आत्मशुद्धि को ही धर्म मानता है। वह जानता है अनुभव करता है कि बाहरी उपाधियो के कारण राग, द्वेष, मोहादि उसके आत्मा के निर्मलशुद्ध स्वभाव को आवरित करते है। इसलिये उन उपाधियों को दूर कर के शाश्वत निर्मलता प्रकट करनी चाहिये। वह पूर्ण अहिंसक, पूर्ण संयमी और पूर्ण तपस्वी होता है।

(७) प्रभा दृष्टि

यह सातवी दृष्टि है। इसमें उसकी आत्म-निर्मलता आगे बढ़ती है और उसका बोध सूर्य प्रभा की भाति प्रकाशमान होता है। इस दृष्टि का योगी निरन्तर अखण्ड ध्यान में स्थित रहता है उसका मन विकल्प रहित होता है, उसे प्रशम प्रधान सुख का अनुभव होता है, परम आत्मशांति मिलती है। यह सुख परावलम्बी नही, किसी अन्य बाहरी

वस्तु पर आधारित नहीं, केवल आत्मावलम्ब पर ही आधारित है। सुख आत्मा का निजीगुण जो आवरणों से ढका हुवा था आवरणों के दूर होने से पूर्ण रूप से प्रकट होता है, जिसमें दु:ख लेश मात्र भी नही होता। वह किसी शास्त्र ज्ञान पर आधारित नहीं किन्तु केवल आत्मानुभव पर ही आधारित होता है। ऐसे योगी के प्रभाव से क्रूर हिंसक प्राणियो मे वैर विरोध भाव भी मिट जाता है। वह अन्य प्राणियो को कल्याण मार्ग बतला कर परोपकारपरायण होता है। उसकी सब क्रियाएं परमार्थभाव रूप होने के कारण अमोघ होती है और निश्चय ही मुक्ति फलदायक होती है।

पिछली दृष्टि में धारणा योग अंग प्राप्त होता है, इसमे ध्यान योग अर्थात् अखण्ड परिणाम की धारा प्राप्त होती है। उसे स्थिर अध्यवसाय प्राप्त होते है। वह इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेने के कारण शांत दांत हो जाता है। वह परम वैराग्य भावना में रंग जाता है। वह शुद्ध आत्मध्यान अर्थात् शुल्कध्यान आरम्भ करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है।

इस दृष्टि मे राग, द्वेष, मोहरूपी महारोग, भाव रोग नाश प्राप्त करते है और सूक्षम प्रतिपत्ति (विचारना) नामक गुण प्राप्त होता है, आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव, साक्षात्कार होता है। उसका ज्ञान शास्त्राधारित नही रहकर अनुभव आधारित हो जाता है। इस दृष्टि में सातवां अथवा आठवां गुणस्थानक प्राप्त हो जाता है।

उपसंहार

मनुष्य को जीवनयापन के लिये धन आवश्यक है, पर मनुष्य को प्रकृति है कि ज्या-ज्यों धन मिलता हे, लोभ बढ़ता है, इसी प्रकार मनुष्य का इन्द्रियो द्वारा सुख भोग, यह भी उसका स्वभाव है, पर उसकी यह भी प्रकृति है कि ज्यों ज्यो भोग मिलता है अधिकाधिक भोगने को इच्छा होती है ।

मनुष्य अकेला ही नही हे अन्य मनुष्य भो हैं और उनको प्रकृति इच्छाए, भावनाए भी वैसी ही है और वे भी धन और भोग के पीछे इसी तरह दौड़ते है । आखिर संघर्ष का जन्म होता है, प्रतिद्वंदता होती है और 'सबल जोओ दुर्बल मरो' सिद्धान्त का प्रादुर्भाव होता है । और दूसरे का अहित करके भी अपना स्वार्थ साधना (हिसा), कूट नीति और कपट का सहारा लेना (झूठ), अनोति और ठगाई का व्यवहार करना (चोरी), भोग इच्छा की पूर्ति के लिये मर्यादा को तिलांजलि देना (अब्रह्म), और धन व सत्ता प्राप्ति की असीम इच्छा करना (परिग्रह), ये बातें पैदा होतो है और बढ़तो है। शोषण की नीति प्रोत्साहित होती है । अनाचार और अपराध बढ़ते हैं जिनको रोकने में न्याय व्यवस्था, पुलिस आदि भी असमर्थ है । शोषितों के मन में प्रतिक्रिया पैदा होती है और वह भिन्न-भिन्न प्रकार के भयंकर रूप धारण कर हिंसात्मक

आन्दोलनों और आचरणों का रूप लेती है। व्यक्ति के क्षेत्र में यह स्थिति पैदा होती है तो सामूहिक, समिष्ट क्षेत्र में युद्धों को प्रोत्साहन मिलता है। मनुष्य की बुद्धि, नये-नये वैज्ञानिक आविष्कार, उद्योग जो जनकल्याण के बहाने से चलाए जाते है, सर्वविनाश के साधन बनते हैं। शान्ति बनाये रखने के उद्देश्य से स्थापित महान् सस्थाए भी अपने उद्देश्य मे विफल होती है। इतना होने पर भी संसार की प्रजा का बहुत ही बड़ा भाग इस ओर से मानो आंखें बन्द किये है, अधा है, नशे में बेभान है। वह नही देखता कि धन, सत्ता और भोग की अमर्यादित इच्छा, दुःख का ही कारण बनती है।

कुछ लोग जो इन बुराइयों को समझते भी है फिर भी उन्हे छोड़ नही सकते। यह भोग इच्छा उनके जीवन संस्कारों का अंग बन गई है। उस पर मर्यादा रखना आसान बात नही है। रोग आसानी से फैलता है, स्वास्थ्य का प्रचार आसान नही। बुरी आदतें और दुर्गुण आसानी से आ सकते हैं उनसे मुक्ति आसान नही। इसके सिवाय स्वार्थी लोग अपने लाभ के लिये और मनुष्य की कमजोरियो का लाभ उठाने के लिये तरह-तरह से उदाहरणार्थ गन्दे साहित्य और गन्दी फिल्मों द्वारा, ऐसे आचारो और विचारों का प्रचार करते है। और आज सारी दुनियां को प्रभावित करनेवाली पाश्चात्य सभ्यता तो मर्यादा हीनता को ही श्रेय दे रही है। (Permissive Society) ऐसी हालत में इन बुराइयों से एकाएक छुटकारा असंभव है। वह शनैः शनैः क्रम वार, या

कक्षावार ही हो सकता है। पहले जो अपेक्षाकृत आसानी से पालन हो सके ऐसी मर्यादाएं ली जाती हैं और उनके पालन में ही सफलता मिलने पर आगे की कठिन मर्यादाओं के पालन की चेष्टा की जाती है। इसी प्रकार मनुष्य पूर्ण सफलता, पूर्ण सुख की स्थिति धीरे-धीरे प्राप्त कर सकता है।

इसी प्रकार जैसे-जैसे मनुष्य अपने दोषों को, अपनी कमजोरियों को मर्यादित करने मे सफलता प्राप्त करता जाता है, उसका दृष्टि बिन्दु बदलता जाता है, प्रकाशमान होता जाता है, आंखें खुलने लगती है। आगे बढ़ने का उत्साह बढ़ता जाता है। पर वह ससार में जो उसके उत्तरदायित्व है, गृहस्थी के प्रति, आश्रितों के प्रति, समाज, देश और संसार के प्रति, उनको वह नहीं भूलता है। उन जिम्मेवारियों से असमय भाग कर दूसरों का अहित करने का भागी नही बनता है, पर अनासक्त भाव से अपने उत्तरदायित्व को पूरा करता रहता है। जब वह इस अवस्था या कक्षा को प्राप्त कर लेता है तब उसकी प्रकृति इतनी निर्मल हो जाती है कि वह स्वतः ही अधिक निर्मलता की ओर बढ़ता है, उसके जीवन में अशान्ति की गुंजाइश ही नही रहती। उसका रूप योगीराज श्री आनन्दघनजी के शब्दों मे इस प्रकार बताया गया है :—

मान अपमान चित्त समगणे, समगणें कनक पाषाण रे,
वंदक निन्दक समगणे, इस्यो होय तू जाण रे,
सर्व जग जन्तु ने समगणे, समगणें तृण मणिभाव रे,
मुक्ति संसार बहु समगणें, मुणे भवजल निधि नावरे,

आपणो आत्म भाव ने, एक चेतन आधार रे,
अवर सवि साथ संजोग थी, एह निज परिकर सार रे।

यह अवस्था मुनि या साधु की है। यदि पूर्व कर्मों के उदय से उसके जीवन मे कोई दुःख भी आ पड़ता है तो वह उसे अपना कर्ज चुकाना समझता है और उस दुःख को सम-भाव से सहन करता है जिससे नये कर्म आकर नया कर्जा सिर पर न हो जाय। इस स्थिति का सुख उसीको प्राप्त हो सकता है जिसमें साधु के वास्तविक गुण हों, केवल साधु वेश ही न हो।

इससे भी उत्तम सुख तब प्राप्त होता है जब आत्मा और शुद्धि को प्राप्त करता है, अपने चित्त को सब तरफ से हटा कर केवल आत्मा के शुद्ध स्वरूप पर केन्द्रित करता है और ध्यान करता है और अपने देह तक का ममत्व छोड़ देता है—परमात्म पद पा लेता है। हमारे लिये, जो विषय, लोभ, स्वार्थ की गन्दगी में फंसे हुए हैं, ऐसी स्थिति का समझना ही कठिन है। हमारी आँखे बन्द है, हमारे सामने अंधकार है। पर जो अपनी वृत्तियो को, अपने चित्त को, अपनी आत्मा को शुद्ध और वासनाओ से मुक्त करने के मार्ग पर चलता है वह ज्यो-ज्यों आगे बढ़ता जाता है उसकी दृष्टि खुलती जाती है। उसके सामने से धीरे-धीरे अंधकार घटता जाता है और प्रकाश बढ़ता जाता है, आगे का मार्ग साफ दृष्टिगोचर होता जाता है और बढ़ते-बढ़ते पूर्णता, पूर्ण प्रकाश प्राप्त कर लेता है तो इस में आश्चर्य की बात नहीं।

इन्हीं परिणामों की शुद्धि को विकासशील दृष्टि या दृष्टि-

बिन्दु कहें या बोध, विवेक या ज्ञान कहें चाहे जिस नाम से कहे, मनुष्य आसानी से समझ सके, इस विचार से, उसके आठ भेद किये गये है और ये भेद क्रमवार, एक से दूसरा ऊँचा और उससे तीसरा ऊँचा इस प्रकार किये गये हैं। चौथी दृष्टि तक तो पूरा प्रकाश नहीं प्राप्त होता, आँखे पूरी नही खुलती है, पर उस श्रेणी से आगे उसकी वास्तविकता दृष्टिगोचर होकर सब पूर्वाग्रह छूट जाते है और उसे सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है। यह पूर्ण प्रकाश पर पहुँचने का मार्ग ही योग कहलाता है और जो दृष्टि खुलती है वही योग दृष्टि है।

इस उपसंहार के पहले जो कोष्टक दिया हुआ है उससे यह समझने में सहायता मिलेगी कि प्रगति पथ मे किस प्रकार दृष्टि विस्तृत होती जाती है, दोष कम होते जाते है और गुण बढ़ते जाते हैं तथा ध्येय प्राप्ति के लिये क्या साधन, और क्या पुरुषार्थ करना पड़ता है।

सार यह है कि धर्म के नाम से जो भी क्रिया की जावे, उसका ध्येय अपने विचारों को निर्मल, निर्मलतर, शुद्ध शुद्धतर, आग्रह रहित, माध्यस्थ्य भाव पूर्ण बनाते हुये, जीवन का सत्य पथ जानकर उस पर चलना तथा अपनी दृष्टि का विकास करते हुए आगे बढ़ना जिससे मार्ग स्वयं प्रकाशित होता जावे और आत्मा परम परमात्मपद, मोक्ष के निकट पहुँचता रहे। इन सबका आधार स्वयं का पुरुषार्थ ही है न कि कोई बाहरी सहायता।

श्री मुनि सुन्दरसूरि रचित

अध्यात्म कल्पद्रुम

के

स्व० मोतीचन्द गि० कापड़िया द्वारा

विवेचन पर आधारित

संक्षेप संकलन

जीवन में शांत रस

सर्व मांगलिकों का निधान ऐसा शान्त रस जिसके हृदय में प्राप्त हो जाता है उसे अनुपम सुख प्राप्त हो जाता है, और मोक्ष सुख एकदम उसके आधीन हो जाता है। हे पंडितो ! ऐसे शांत रस को तुम भजो, सेवो और भावो। (२)

हे मोक्षार्थी प्राणी ! तू समता के विपय में लीन चित्त-वाला हो, स्त्री, पुत्र, पैसे और शरीर पर से ममता (मूर्छा) छोड़ दे, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श इत्यादि इन्द्रियों के विषयों तथा क्रोध, मान, माया और लोभ इन कपायों के आधीन मत हो। शास्त्र रूप लगाम द्वारा तेरे मन रूपी अश्व को नियंत्रण (कावू) में रख, वैराग्य द्वारा शुद्ध निष्कलंक धर्मवान बन (साधु के दश मुनि धर्म और श्रावक के बारह व्रत तथा आत्म गुणों में रमण करने रूप शुद्ध धर्मवाला बन) देव, गुरु, धर्म के शुद्ध स्वरूप का जानकार हो। सर्व प्रकार के सावद्य (दोषपूर्ण) योग (कार्यों) से निवृत्ति रूप विरति धारण कर (सत्तावन प्रकार के) संवरवाला हो, अपनी प्रवृत्तियां शुद्ध रख और समता के रस को तू भज। (३-४)

समता-समभाव

समता से प्राप्त सुख के सामने संसार और स्वर्ग के सब सुख भी समुद्र के सामने एक बिन्दु के समान हैं। (६)

समता प्राप्ति के उपाय—प्रथम उपाय है चार भावनाएं (१) परहित चिंता रूप मैत्री भाव (२) सर्व गुणवान पुरुषों के प्रति संतोष दृष्टि (३) संसार के दुःखों से पीड़ित प्राणियों के प्रति करुणा भाव, कृपा भाव और (४) निर्गुण प्राणियों के प्रति उदासीन, माध्यस्थ्य भाव। (१२)

कोई प्राणी कुकर्म (पाप) न करे, कोई प्राणी दुखी न हो, यह जगत् कर्म मैल से मुक्त हो, यह मैत्री भावना है। (१३)

जिन्होंने सर्व दुर्गुणो को दूर किया है और जो वस्तु स्वरूप बराबर समझते हैं ऐसे महान् पुरुषों का बहुमान करना प्रमोद भाव है। (१४)

अशक्त, दुखी, भय से व्याकुल, जीवन के इच्छुक प्राणियों पर आये दुःखो को हटाने की इच्छा करुणा भावना है। (१५)

बिना हिचकिचाहट क्रूर कर्म करनेवाले देव और गुरु की निन्दा करनेवाले, इसी प्रकार अन्य बुरे कार्यो में प्रवृत्ति रखने वाले, प्राणियो के प्रति क्रोधादि न कर उदासीन भाव रखना माध्यस्थ्य भाव है। (१६)

समता प्राप्ति का दूसरा उपाय है इन्द्रियों के विषयों पर समभाव रखना (१७)

समता साधन का तीसरा साधन है आत्म शिक्षा। तू विचार कर तुझमें ऐसे कौनसे गुण हैं कि तू स्तुति की इच्छा रखता है, तेने ऐसा कौनसा महान् आश्चर्यकारी कार्य किया जिसका तुझे अहंकार है, तेने कौनसे ऐसे सुकृत्य किये

हैं कि जिससे तुझे नीच गति का भय मिट गया है या यम को जीत कर तू चिन्ता रहित अमर हो गया है (१८)

तू यह नहीं जानता कि कौन तेरा शत्रु है, कौन मित्र है, कौन हित करने वाला है और कौन अहित करनेवाला है। तू दुःख पर द्वेष करता है सुख प्राप्ति की इच्छा रखता है। पर दुःख सुख क्या है, क्यो होते हैं और उनसे कैसे बचा जाता है यह तू नहीं जानता तब अपनी इच्छित वस्तु कैसे प्राप्त कर सकेगा ? (२०)

प्राणी काम भोग समझते हैं, अर्थ–धन प्राप्ति समझते है, कई धर्म को भी समझते हैं और उनमें से कई जैन धर्म को, शुद्ध देव गुरु युक्त जैन धर्म को और उनसे भी कम मोक्ष को भी समझते है परन्तु समता को समझनेवाले तो उनसे भी कम हैं। (२५)

ममत्व (चित्त अर्थात् मन पर नियंत्रण)

देवता प्राणी को सुख या दुःख नहीं देते, काल (समय) भी दुःख नही देता और न मित्र या शत्रु ही दुःख देते हैं। प्राणी के दुःखों का, भवचक्र में फिरने का, दुःख पाने का कारण केवल मन है (१११)

दान, ज्ञान, ध्यान, तप, पूजा इत्यादि सब निरर्थक है यदि मनोनिग्रह नही है। क्रोध भाव, आदि कषायों के कारण चिंता तथा आकुल व्याकुलता रहित मन को रखना, प्राणी के लिये एक महान् योग साधना है। (११३)

जाप करने से मोक्ष नहीं मिलता और न बाह्य या

अभ्यंतर तप करने से मोक्ष मिलता है। इसी प्रकार न संयम, मौन इत्यादि साधनों से मोक्ष मिलता है। केवल अच्छी तरह से वश में किया हुआ मन ही मोक्ष दे सकता है। (११४)

हे बैरी मन ! मैंने तेरा कौनसा अपराध किया कि तू मुझे कुविकल्पों के जाल में बाँध कर मुझे दुर्गति में फेंक देता है। (११७)

जिस प्राणी का चित्त दुर्विकल्पों से भरा हुवा है उसे तप, जप इत्यादि धर्म अपना वास्तविक फल नहीं देते। उसकी स्थिति एक समृद्धिशाली घर होते हुये भी भूखे रहने के समान है। (११६)

जिस प्राणी का मन सदा निरर्थक संकल्प विकल्पों से दबा रहता है वह प्राणी चाहे जितना ज्ञानी विद्वान हो नरक में ही जाता है। (१२१)

मन की समाधि (एकाग्रता, नियंत्रण) योग का कारण है, योग, तप का उत्कृष्ट साधन है और तप शिवसुख (मोक्ष) का मूल है। (१२२)

मन निग्रह का उपाय (मन को कावू करने का उपाय) स्वाध्याय (शास्त्राभ्यास), योग साधन, चारित्र, क्रिया, व्यवहार, बारह भावना (संसार की वस्तुस्थिति पर चिन्तन), मन, वचन, काया की शुभ अशुभ प्रवृत्तियों के फल का चिन्तन है। (१२३)

मन रूप वन में भावना अध्यवसाय रूप सिंह सदा जागृत रहे तो दुर्ध्यान रूप सूअर उस वन में प्रवेश नहीं कर सकता। (१२४)

वैराग्योपदेश (अनासक्त भाव)

हे आत्मा ! तू ही अज्ञानी है और तू ही ज्ञानी है। सुख को वांछा करनेवाला और दुःख से द्वेष करनेवाला भी तू ही है। तब तू ऐसे प्रयत्न क्यों नही करता जिससे तेरा हित होवे। (१२७)

मैं विद्वान् हूँ, मैं सर्व लब्धिवान हूँ, मैं राजा हूँ, दीनेश्वर हूँ और अद्‌भुत गुणों का धारक हूँ और मैं महान् हूँ, इस प्रकार अहंकार के वश होकर तुझे संतोष व प्रसन्नता होती है। पर परभव में तेरी कैसी लघुता होगी क्या तू यह नहीं जानता है। (१२९)

तू प्रमाद से (अपनी कमजोरियों के कारण) भिन्न-भिन्न प्राणियों के प्रति क्यों निर्दयपूर्ण प्रवृत्ति करता है। जो तू प्राणियों को एक बार पीड़ित करता है, उसको प्रतिक्रिया स्वरूप तुझे भवांतर में अनेक गुणी पीड़ा सहन करनी पड़ेगी। (१३४)

बिना इच्छा तुझे अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं। यदि तू करुणादि भावना से अपनी इच्छा से थोड़ा कष्ट सहन करेगा तो भविष्य में और भवांतर में तुझे दुःख की निवृत्ति होगी। (१४२)

कल्पना में रहे हुए धन, सम्बन्धी, पुत्र, यश इत्यादि के लिये तू क्लेश पाता है पर विचार कर इसी भव में और पर भव में ये कहां तक तेरे को उपयोगी होंगे, उनके द्वारा कितने गुणों की साधना कर सकेगा। (१४१)

हे आत्मन् । तू कभी तो कषाय द्वारा और कभी प्रमाद द्वारा, कभी कदाग्रह से और कभी मत्सर इत्यादि द्वारा, निजी आत्मा को मलीन करता है । तुझे धिक्कार है, तू ऐसे अधर्मी कार्यों के दुष्परिणामों से, नरक से भी नहीं डरता, तनिक विचार कर । (१५०)

धर्म शुद्धि

जो धर्म तेरी संसार सम्बन्धो विडम्बनाओं का नाश करता है उसी धर्म को तू प्रमाद, मान, मत्सर इत्यादि द्वारा क्यों मलिन कर रहा है ? (१५१)

सुकृत्य में इतने पदार्थ मैल रूप हैं—शिथिलता, मत्सर, कदाग्रह, क्रोध, अनुताप, दंभ, अविधि, गौरव, मान, कुगुरु कुसंग, आत्मप्रशंसा सुनने की इच्छा, ये सब पुण्य राशि में मैल रूप हैं । (१५२)

दूसरे लोगों द्वारा तेरे गुणों की स्तुति करने पर तू यदि हर्ष अनुभव करेगा तो तुझमें गुणों की शून्यता आ जायगी । लोग यदि तुझे तेरे दोष बतावें उससे मन में खेद पायगा तो वे दोष तुझ में निश्चय ही दृढ़ हो जावेंगे । (१५४)

लोगों के प्रशंसा करने से कोई गुणी नही बन जाता है और न परलोक में हित होता है । यदि तू परलोक में हित चाहता है तो निकम्मे अभिमान के वश होकर ईर्ष्यादि द्वारा अपना भव क्यों बिगाड़ता है । (१५७)

तेरे गुणों अथवा सुकृत्यों की अन्य लोग प्रशंसा करें या

सुने, उन्हें देखें उससे तुझे कोई लाभ नहीं, किन्तु हानि ही हो सकती है।

गुणों पर मत्सर करनेवाला प्राणी तप, आवश्यक क्रिया दान, पूजा से मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता है, जैसे रोगी यदि अपथ्य भोजन करे तो कितनी ही उत्तम औषधि हो उसे लाभ नहीं पहुँचाती। (१६१)

एक छोटा सा दीपक अंधकार को दूर करता है, अमृत की एक बूंद अनेक रोगों का नाश करती है, एक चिनगारी लकड़ी के बड़े ढेर को जला देती है, उसी प्रकार धर्म का एक अंश मात्र भी यदि निर्मल हो तो वह पापों को हर लेता है। (१६३)

भाव और उपयोग (सावधानी) के बिना सर्व आवश्यक क्रिया (धार्मिक क्रिया) करने से तुझे केवल काय क्लेश होगा, पर तुझे उनका सुफल नहीं मिलेगा। (१६४)

शुद्ध देव, गुरु, धर्म

सब तत्त्वों में गुरु मुख्य है, आत्महित के लिये जो जो धर्म (अर्थात् कृत्य) करने को है, वे उन्हीं के मार्ग दर्शन से साधे जा सकते है। यदि गुरु की परीक्षा किये बिना उनका आश्रय लेगा तो तेरे धर्म सम्बन्धी सब प्रयास निष्फल जायंगे। (१६५)

जहां धर्म बतानेवाले गुरु ही शुद्ध नही वहां उनके

बताये हुए अविधि से धर्म करनेवाला व्यक्ति किसी भी प्रकार मोक्ष प्राप्त नही कर सकता है। (१६६)

हे वीर परमात्मा ! मोक्ष मार्ग के सार्थवाह रूप जिनको तुमने स्थापित किया था, वे इस कलिकाल में तुम्हारे अनुपस्थिति मे तुम्हारे शासन में बड़े लुटेरे हो गये हैं। वे यति (साधु) नाम धारण कर अल्प बुद्धिवाले (भोले भाले) व्यक्तियों की पुण्य लक्ष्मी की चोरी करते है। हम अब किसके पास पुकार करें। जहां स्वामी बिना का राज्य होता है वहां क्या कोतवाल चोर नहीं बन जाते है ? (१७०)

नीम के वृक्ष को सीचने से आम नहीं पैदा हो जाते है, औषधियां देने से बध्या गाय दूध नहीं देती, राज्य भ्रष्ट हुये राजा की खूब सेवा करने पर भी वह लक्ष्मी देकर निहाल नहीं कर सकता उसो प्रकार कुगुरु की सेवा से वह शुद्ध धर्म और मोक्ष नही दे सकता। (१७२)

जो धर्म का बोध (ज्ञान) देकर मनुष्य को शुद्ध धर्म में लगाते है वे ही वास्तव में सच्चे माँ बाप, सच्चे हितेषी हैं और उन्हें ही सच्चे गुरु समझना चाहिये। (१७४)

दाक्षिण्यता (सरलता) लज्जालुपन, गुरु और देव की पूजा, माँ बाप तथा बड़ों की भक्ति, उत्तम कार्य करने की अभिलाषा, परोपकार और व्यवहार शुद्धि मनुष्य को इस भव में और परभव में लाभकारी होते है। (१७५)

जिस प्राणो की धर्म सम्बन्धी चिंता, गुरु और देव के प्रति भक्ति और वैराग्य का अश मात्र चित्त में नहीं ऐसे पेटभराऊ का जन्म पशु तुल्य है। (१८०)

यति (साधु) शिक्षा

जिन महात्माओं का मन इन्द्रियों के विषयों में आसक्त नहीं होता, कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) उसमें व्याप्त नहीं होते, जो राग द्वेष से मुक्त हैं, जिन्होंने पापकार्य से छुटकारा पा लिया है, जिन्होने समता द्वारा अद्वैत सुख प्राप्त कर लिया है और जो भावना भाते-भाते संयम गुण रूप उद्यान में सदा खेलते हैं, इस प्रकार का जिनका मन हो गया है ऐसे मुनिश्वर इस संसार समुद्र से तिर गये हैं और उनको हम नमस्कार करते है। (१८२)

हे आत्मन् ! तू चारित्र बिना केवल साधु का भेष धारण करता है, अहंकार करता है और लोगों से पूजा (सम्मान) की अपेक्षा रखता है जिससे भोले विश्वासी लोगों को ठगता है तो तू अवश्य नरक में जायगा।(१८६)

ये संसारी तुझमें गुण मानकर तुझे नमस्कार करते हैं, तुझे और तेरे शिष्यों को उपाश्रय, आहार आदि देते है, यदि तू गुणों बिना साधु का भेष धारण करता है तो तेरी गति ठग जैसी होगी। (१८९)

शास्त्रों का जानकार हो, व्रत ग्रहण किये हुये हो, स्त्री पुत्र इत्यादि के बंधनों से मुक्त हो पर वह प्रमाद वश परलौकिक सुख रूपो लक्ष्मी के लिये प्रयास नहीं करता है तो इसका कारण तीन लोक को विजय करनेवाला मोह नामक शत्रु ही होना चाहिये। (१९१)

वेष, उपदेश और कपट से प्रभावित भोले लोग तुझे

तेरी वांछित वस्तुएं देते है, तू सुख से खाता है, सुख से सोता है, फिरता है परन्तु आनेवाले भव में इसके तू क्या फल पायेगा। (१९३)

कई गृहस्थों के लिये जिन्हें रात दिन आजीविका चलाना भी भारी पड़ता है और बड़ी मुश्किल से धर्म कार्य कर पाते हैं उनसे हे दयाहीन मुनि तू अपनी सब इष्ट वस्तुएं प्राप्त करने की इच्छा रखता है और सयम का यत्न नहीं करता तो तेरी क्या गति होगी। (१९४)

अपने कपट जाल से प्रभावित लोग तुझे दान देते है, नमस्कार करते है, वंदन करते हैं तब तू प्रसन्न होता है, पर तू जानता नही कि तेरे पास यदि लेशभर भी सुकृत्य है तो वह भी लूटा जा रहा है। (२०२)

यदि जनरंजन के लिये तू अच्छे और बुरे अनेक प्रकार के शास्त्र पढ़ता है और माया पूर्वक विचित्र प्रकार के भाषण देने का कष्ट सहन करता है तो वे भाषण और तू भवांतर में कहां जायेंगे। (२०४)

वस्त्र, पुस्तक, पात्र इत्यादि धर्मोपकारक वस्तुए श्री तीर्थंकर भगवान् ने संयम की रक्षा के निमित्त मुनियों को बताई है, तब मंद वुद्धि मूढ़ प्राणी, बहुत मोह मे पड़ कर, उन उपकरणो को संसार में डूबने के साधन भूत बना लेते है, उन्हें वास्तव मे धिक्कार है। मूर्खों द्वारा अकुशलता से उपयोग किया हथियार निज का ही नाश करता है। (२०८)

संयम उपकरण के बहाने पुस्तक इत्यादि वस्तुओं का भार तू दूसरों पर डालता है; परन्तु वे तुझे गाय, गधा, ऊंट

इत्यादि का रूप दिला के बहुत-काल तक तुझसे बं
उठवायेंगे । (२०८)

तू तप, यम और संयम की नियंत्रणता सहन कर, नि
वश रहकर परिषहादि का दुःख सहन करने के अनेक गुण
परवश रहकर यदि दुःख सहना पड़ा तो दुखिया होगा पर
कुछ भी नहीं मिलेगा । (२१६)

चारित्र से इस भव में सब प्रकार की चिन्ता और
की आधि व्याधि का नाश होता है । इस मार्ग में जिसको
लग जाती है उसे बड़ा सुख मिलता है और परभव में इ
सन अथवा मोक्ष महालक्ष्मी मिलती है । ऐसा होने पर
तू चारित्र मे क्यो प्रमाद करता है। (२१८)

जो प्राणी दान, मान, स्तुति और नमस्कार से प्र
नहीं हो जाता और इसके विपरीत, निन्दा इत्यादि
अप्रसन्न नही होता और अलाभ इत्यादि परिषहों को स
कर लेता है, परमार्थ से वही मुनि है, अन्यथा केवल
विडंषक है । (२२६)

हे मुनि ! महान् गुरु की प्राप्ति हुई, घरबार छं
तत्त्व-प्रतिपादन करनेवाले ग्रंथों का अभ्यास किया
जीवन निर्वाह की चिन्ता से मुक्त हुवा, इस पर भी प
का चिन्तन क्यो नही करता और हित के लिये प्रयत्न
नहीं करता । (२३५)

सयम के नाम मात्र से लोक में तू इतना पूजा जात
तो यदि वह सयम वास्तव में शुद्ध हो तो क्या तुझे इष्ट
नही मिलेगा । जिस संयम का महान् फल तेरे प्रत्यक्ष अ
में आता है, उस संयम का तू क्यों यत्न नहीं करता
(२३८)

मिथ्यात्व निरोध

हे चेतन, जो तू सुख की इच्छा रखता है तो मिथ्यात्व, योग, अविरति और प्रमाद को संवर (त्याग) कर, तूने संवर नही किया इसलिये तुझे संसार ताप (दुख) भुगतने पड़ते हैं। पर यदि तूने इनका अच्छी तरह संवर किया होता तो वह मोक्ष लक्ष्मी भी दे देता।

मन की प्रवृत्ति न करने मात्र से ध्यान नहीं होता। एकेन्द्रिय आदि में मन नहीं होने के कारण मन की प्रवृत्ति नही होती। पर जो प्राणी धर्मध्यान और शुक्लध्यान द्वारा मन की स्थिरता प्राप्त कर लेते है उनकी हम स्तुति करते हैं। (२४२)

वचन की अप्रवृत्ति मात्र से मौन धारण करना नही कहा जाता है। हम तो उन वचन गुप्तिवाले प्राणियों की जो निरवद्य निष्पाप वचन बोलते है स्तवना करते है। (२४२)

दुष्ट वचन इस लोक मे और फिर परलोक में वैर कराते है और नरकगति प्राप्त कराते हैं। अग्नि से जला हुवा पौधा फिर उग सकता है पर दुष्ट वचन से जो जल गया है उसमें फिर स्नेहाकुर नहीं फूटते। (२४६)

इन्द्रियों के उनके विषयों से संयोग न होने मात्र से सयम पालन नहीं कहा जा सकता किन्तु मन में राग द्वेष उत्पन्न ही नहीं होने देना संयम है और स्तुत्य है। (२५६)

मोक्ष लक्ष्मी प्राप्त करने में सब संवरों में महत्वपूर्ण संवर (नियंत्रण) मन का संवर है। यह जानकर बुद्धिमान

प्राणी को कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) से उत्पन्न दुर्विकल्पों का त्याग कर मन का सवर करना चाहिये। (२५९)

जिन्होंने ऊपर बताये अनुसार संवर किया है उनकी आत्मा तुरन्त बिना प्रयास के निसंगता (पुत्र, स्त्री, धन इत्यादि पर ममता रहित पन) प्राप्त कर लेती है। (२६०)

शुभवृत्ति शिक्षा

आप्त पुरुषों के बताये हुये शुद्ध और पाप को हरने वाले आवश्यक (क्रियाएं) करने में यत्न कर, क्योकि वैद्य के बताये औषध को खाये परन्तु वह अशुद्ध हो तो रोग का नाश नहीं होता है। (२६१)

जैसे रसायन दुष्ट रोगों का नाश करता है उसी प्रकार शुरू में कठिन लगनेवाले पर उत्तम परिणाम देनेवाले दोनों प्रकार (बाह्य, आभ्यतर) के तप सदा कर जिससे कुकर्म के ढेरों का नाश हो। (२६२)

तू अठारह हजार शुद्ध शीलांग धारण कर योग सिद्धि निष्पादित हो; शरीर पर की ममता त्याग कर उपसर्गो को (कष्टो को) सहन कर समिति और गुप्ति का पालन कर। सज्झाय ध्यान में यत्न कर, माध्यस्थ्य बुद्धि से आगम का अर्थ समझ अहकार का त्याग कर, भिक्षार्थ फिर और इन्द्रियों को वश कर शुद्ध हेतु में विखवाद रहित हो। (२६३-६४)

हे मुनि! तू धर्म प्राप्ति के लिये, ऐसे धर्मानुकूल उपदेश दे जो स्व-पर के बाबत समानता प्रतिपादन करे, तू जगत् की

हित इच्छा कर प्रमाद रहित होकर गांव अथवा कुल में नव कल्पी बिहार कर ।

दूसरे प्रणियों के तीनों प्रकार से पीड़ा नहीं पहुंचाने से तेरे मन, वचन, काया के योग की त्रिपुटी निर्मल होती है, मन केवल समता में लीन हो जाता है और वह दुर्विकल्प तज देता है और वचन में निर्दोष व्यवहार में प्रवृत्त होता रहता है। (२६७)

हे आत्मन् ! मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्ता की अच्छी तरह भावना कर और इससे समता भाव प्रकट कर, प्रयत्न करके सद्भावना भाकर आत्मलय में बाधा दिये बिना मन को लगा । (२६८)

हे समर्थ आत्मा ! किसी भी वस्तु पर ममत्व (मूर्छा) भाव मत कर। जब तू वांछा रहित हो जायगा तो उच्च स्वर्ग के देवताओं का सुख तुझे मिलेगा । (२६९)

साम्य सर्वस्व

हे आत्मन् ! तू ही दुःख, तू ही नरक, तू ही सुख और मोक्ष भी तू ही है। तू ही कर्म और मन भी तू ही है, अविद्या (अज्ञान) को तज कर सावधान होजा (२७२)

हे आत्मन् ! सर्व पदार्थों पर सदा समता भाव लाकर, निसंगपण प्राप्त कर । हे विद्वान ! तू समझ लेना कि दुःख की जड़ ममता (मूर्छा) ही है और सुख की जड़ समत्व ही है। (२७३)

उसी गुरु की अच्छी तरह सेवा कर, उन्हीं शास्त्रों

(साहित्य) का अभ्यास कर, और उन्हीं तत्त्वों (बातों) का चिन्तन कर जिनसे तुझे समता रूप अमृत के स्वाद की प्रप्ति हो। (२७५)

इस समता रूपी अमृत का रस समस्त शास्त्र समुद्रों में से निकला है। हे पंडितजनो! तुम यह रस पीओ और तुम्हें मोक्ष सुख की प्राप्ति यहीं हो जायगी। (२७६)

हे बुद्धिमान पुरुषो! इस (अध्यात्म कल्पद्रुम) ग्रंथ का अध्ययन कर, उसे चित्त में रमण करावो जिससे थोड़े ही काल में संसार से विरक्ति आवे और संसार रूपी शत्रु पर विजय लक्ष्मी के साथ मोक्ष लक्ष्मो अवश्य प्राप्त हो। (२७८)

उपसंहार

श्री मुनि सुन्दरसूरि रचित ग्रंथ अध्यात्म कल्पद्रुम के आधार पर यह प्रकरण लिखा गया है। इस ग्रंथ का सुन्दर विवेचन स्व० श्री मोतीचन्द गिरधरदास कापड़िया ने किया है। उनके अनुसार अध्यात्म शब्द का मूल अर्थ है आत्मा की उन्नति को दृष्टि में रखकर जीवन व्यवहार करना। पर मन तो बाह्य व्यवहार को ही स्वाभाविकतया महत्व देता है। इसलिए इस शब्द का रूढ़ अर्थ होता है कि मन को मैत्री, प्रमोद आदि भावों से प्रभावित करना, सुगंधित करना। इसका अर्थ यह नहीं है कि बाह्य व्यवहार, सांसरिक या स्वाभाविक व्यवहार का त्याग कर दिया जाय पर अर्थ यह है कि उस व्यवहार का स्वरूप समझ मन को आगे बढ़ाना, विशाल बनाना। इस प्रकार विशालता प्राप्त मन अपने ही समान सब प्राणियों-जीवों को समझकर सब जीवों की ओर प्रेम भाव लाकर आनन्द पाता है। सीधी भाषा में कहें तो यही अध्यात्म है ! यही प्रेम भाव, मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य भाव है। यही समता समभाव का जनक है और यह आत्मा को उन्नति के पथ पर, शुद्धता के पथ पर अग्रसर कराता हुआ जीवों को, प्राणी को, आत्मा को पूर्णता, पूर्ण-शुद्धता, निज स्वरूप अर्थात् मोक्ष तक पहुंचाता है।

परन्तु आज के संसार में आत्मा की ओर तो किसी को ध्यान देने का अवकाश ही नहीं इसलिये उसके गुणों की वृद्धि या उसकी शुद्धता या मोक्ष का तो कोई अर्थ ही नहीं। आज का ध्येय तो केवल शरीर और इन्द्रिय भोग ही है।

स्व० मोतीचन्द गिरधरदास कापड़िया के शब्दों में इस जमाने की कुछ विशेषताएं हैं। वस्तुस्वरूप का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं होता। शिक्षा की आधुनिक पद्धति के अनुसार जो ज्ञान मिलता है उससे शिक्षित वर्ग अधिकतर जड़वादी हो जाता है। स्पेन्सर, होगल, मिल इत्यादि के लेखों और विचारों को पुष्टि देते हैं। ऐसी विचारधारा जिसमें आत्मा का अस्तित्व ही स्वीकार नही किया जाता है वहाँ आत्मा की उन्नति व अवनति का विचार ही कैसे हो सकता है। आत्मिक ज्ञान जब अनुभव पूर्वक प्राप्त करने में आता है तब ही हित-कारी बन सकता है। नये संस्कारवाले प्राणी इस जीवन के जंजाल में इतने फंस जाते हैं कि उन्हें पर-भव के विषय पर विवाद करने का अवकाश तक नही। इस प्रकार शिक्षित मनुष्यों को आत्मिक ज्ञान प्राप्त करने के स्थूल और मानसिक अवसर कम होते जाते है।

इस मूल ग्रंथ के अधिकारी भी स्व० मोतीचन्द के शब्दों में वे ही हैं "जिन्होंने आत्मा का अस्तित्व स्वीकार कर उसके शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करनें का निर्णय किया हो। ऐसे व्यक्तियों को लक्ष कर ही यह ग्रथ लिखा गया है। तथा समान अधिकारी वे है जिन्हे आत्मा का अस्तित्व तो स्वोकार

है पर जो उसका वास्तविक स्वरूप और पुद्गल के साथ सम्बंध नहो समझते पर उनमें रुचि पैदा करने में यह ग्रंथ अच्छा कार्य कर सकता है और ऐसे व्यक्ति इसे पढ़ कर, विचार कर, थोड़े समय मे पहली श्रेणी मे आ सकते है। पर जो नास्तिक आत्मा के अस्तित्व को नहीं माननेवाले हैं और धर्म से विमुख नास्तिक है वे इस ग्रंथ के अधिकारी नहीं''।

जो सत्य है वह तो सत्य ही रहेगा। चाहे नास्तिक उसे न स्वीकार करे। इसी प्रकार प्रत्येक कार्य के स्वाभाविक परिणाम तो अवश्य ही होंगे चाहे कोई ऐसा समझे या न समझे। इसलिये आत्मा का ज्ञान या उसके अस्तित्व को कोई स्वीकार करे या न करे, उसके अच्छे या बुरे कार्य का अच्छा या बुरा परिणाम तो अवश्य होगा। यदि कोई अपराध करे परन्तु उसे अपराध न भी समझे तब भी न्याय कानून उसे क्षमा नहीं करेगा (Ignorance of Law is no excuse) जो हिंसादि या क्रोध, मान माया, लोभ, मोहादि करेगा उसकी प्रतिक्रिया तो अवश्य होगी चाहे करनेवाले उसे क्रिया और प्रतिक्रिया का सम्बंध आत्मा से न भी समझे। धर्म तो इस लोक और परलोक दोनों को सुधारनेवाला है। परलोक को नहीं माननेवाले का भी धर्म के सिद्धांतों पर चलने से लोक और परलोक सुधरेंगे ही चाहे उन सिद्धांतों को वह धर्म के नाम से न भी माने। इस प्रकार के सिद्धांत जिनको जानने के नास्तिक अधिकारी नहीं है इस रूप में रखे जा सकते हैं कि जिनको स्वीकार करने के लिये नास्तिकों को भी

स्वानुभव अपना जीवन अनुभव करने को मजबूर करे। इसी दृष्टि से इस महान् ग्रंथ में से इस प्रकरण का संकलन किया गया है। धर्म सिद्धांत इस रूप में समझाये जाने चाहिये, जिससे नास्तिक भी, आज के भोगवादि पाश्चात्य सभ्यता के चुंगल में आये हुये, युवक युवतियां भी उन सिद्धांतों की सत्यता को अपने जीवनानुभवों के आधार पर स्वीकार करने को बाध्य हों। ऐसा होने पर ही वे आत्मा के अस्तित्व को और उसके प्रगति पथ पर चढते हुये पूर्णत्व को प्राप्त करने की बात भी समझने लगें। नास्तिकों को उपेक्षा कर उनका बहिष्कार कर देना उचित नहीं। नास्तिक चाहे आत्मा के अस्तित्व को न स्वीकार करें पर उनके शरीर में आत्मा तो है ही। ऐसी दशा में 'सर्व जीव करु' शासन रसी' का सिद्धांत उनकी उपेक्षा नहीं सहन करता, उन्हें वह मार्ग अवश्य बताना चाहिये जिससे उनकी आत्मा प्रगति करे और यह तब ही सम्भव है जब सत्य सिद्धांत युक्ति द्वारा उनकी बुद्धि ग्रहण करे इस प्रकार समझाये जावें न कि भगवान् के वाक्य कह कर या परलोक का प्रलोभन देकर। यहां हम इसके कुछ उदाहरण देने की चेष्टा करेंगे।

नास्तिक को भी यह स्वीकार करना होगा कि यदि मनुष्य में यह शक्ति है कि प्रतिकूल स्थितियों में भी नहीं घबराये किन्तु उनका शान्ति से मुकाबला करें तो इस स्थिति में उसके चित्त को शान्ति मिलेगी और वह सुख अनुभव करेगा। वह यह भी स्वीकार करेगा कि जो ऐसी शक्ति

प्राप्त करना चाहता है उसे अनुकूल परिस्थिति में भी अभिमान में अंधा नहीं हो जाना चाहिये क्योंकि अभिमान से मनुष्य की दृष्टि दूषित हो जाती है और इस अनुकूलता पर अंधा न होना और प्रतिकूलता पर नहीं घबराने का नाम ही समता या समभाव है। इसकी प्राप्ति जैन धर्म का मुख्य ध्येय है। इसका उपाय हैं कि स्वयं को मैत्री, करुणा, प्रमोद और माध्यस्थ्य भाव की शिक्षा देना। और इस गुण की प्राप्ति में बाधक है क्रोधादि कुभाव तथा इन्द्रिय भोगों के आधीन होकर बुद्धि को दूषित करना, स्त्री, सन्तान और शरीर से अनुचित मोह, ऐसा मोह तो इनके हित में न होकर प्रत्यक्ष अहितकारी हो, ऐसे मोह से अंधा हो जाना जिससे अपने उन आश्रितों को इसी जीवन में सफलता प्राप्त करने का मार्ग न बता कर अनुचित लाड़ प्यार में बिगाड़ दें और शरीर को भी निस्तेज बना दे। इसी प्रकार धन का ऐसा मोह जो उसे प्राप्त करने में उचित अनुचित, न्याय अन्याय का विवेक खोकर अंधा बना दे जिसके परिणाम स्वरूप स्वयं की चित शांति नष्ट हो और समाज में भी अन्याय, छीना झपटी और अशांति का वातावरण उत्पन्न हो। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह नास्तिक हो तो स्वीकार करेगा ही कि संसार में दुःख की जड़ मोह है, यदि मोह न हो तो दुःख ही न हो। पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ऐसा बिल्कुल निर्मोही या तो जड़ पदार्थ हो सकता है या वह महान् पुरुष जिसने संसार से सब संबंध छोड़ दिया हैं जो कि साधारण व्यक्ति के लिये असंभव है। परन्तु मनुष्य इतना तो कर ही सकता है

कि जो मोह प्रत्यक्ष में अहित कर सकता है जिसके ऊपर उदाहरण दिये गये हैं उसको घटाने की चेष्टा करे और इसके लिये आत्म अनुशासन-आत्म शिक्षा अनिवार्य है और यही वास्तविक धर्म है। इस शिक्षा में सहायक होते हैं इस विषय पर चिन्तन, इस विषय के साहित्य का अध्ययन और इस विषय में बहुत ऊँची, श्रेणी पर पहुँचे हुये अमुक गुणवाले व्यक्तियों से सम्पर्क, और भूतकाल में पूर्णता पर पहुँचे हुये महान् पुरुषो के प्रति आदर्श भावना, इसी को शुद्ध धर्म, शुद्ध गुरु और शुद्ध देव कह सकते है।

इस प्रकार हम देखते है कि आत्मा का अस्तित्व नहीं माननेवाले को भी यह मानना पड़ेगा कि सुख और चित्त शांति समता अर्थात् समभाव मे है और इसके उपाय अपने अपने अधिकार अनुसार और स्थिति और शक्ति के अनुसार क्रमशः मोह कम करना, इन्द्रियों और मन का नियंत्रण, करुणाभाव, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि पर रुकावट, अनासक्त भाव (अर्थात् किये कार्य के पीछे अंधा न हो जाना)पूर्णता पर पहुँचे हुये व्यक्ति (चाहे वे उनकी दृष्टि में कल्पित आदर्श ही हो) के प्रति आदर, भक्ति और यथाशक्ति अनुकरण करने का भाव, उच्च सुख प्रेरक सिद्धांतों का अध्ययन, मनन, चिन्तन, इस मार्ग पर आगे बढ़े हुये व्यक्ति साधु मुनि को बाहरी दिखावे से नहीं किन्तु उनमें क्या गुण होने चाहिये यह (यति शिक्षा) समझकर पहचानना और उनसे लाभ प्राप्त करना, पतित करनेवाले विचारों (मिथ्यात्व) का विरोध, शुभवृत्ति की शिक्षा प्राप्त करना और इस मार्ग पर चलकर यथाशक्ति क्रमशः साम्य, समभाव, समता, शांति, चित्त

प्रसन्नता प्राप्त करना। नास्तिक भी आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करनेवाला इस प्रकार जीवनयापन से अपनी आत्मा को, ऐसा जाने बिना भी, पवित्र, उच्च, शुद्ध, कर्मों के पुद्गलों से, आवरणों से, हलका करता है। क्या वह वांछनीय नही है? इसी दृष्टि से अध्यात्मकल्पद्रुम, महान् अध्यात्म ग्रंथ से इस प्रकरण में संकलन किया गया है। आज भोग, पाश्चात्य सभ्यता के आकर्षक आक्रमण के कारण भारतीय त्याग और संयम आधारित कल्याणकारी भारतीय सभ्यता का नाश हो रहा है। इससे पीढ़ी को बचाने और देश को जीवित रखने का केवल यही उपाय है कि नई पीढ़ी को पहले आत्मा है या नहीं है इस विवाद मे नहीं फ्टक कर शाश्वत सिद्धांत उनके सामने युक्तिपूर्वक इस तरह रखे जावें कि निजि अपने अनुभव से (आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किये बिना ही) वे सिद्धांत उनको प्रभावित करें जिससे उनको आत्मा को सत्मार्ग पर प्रगति हो। इतना होने पर वे स्वतः ही आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करने लगेगे और अध्यात्म शास्त्रों के पठन पाठन के अधिकारी बन जावेगे। भगवान् के समवसरण में नास्तिकों को आने से नही रोका गया था। उन्हे भी उनके कल्याणकारी वचनों के सुनने का अवसर मिला था तो आज उन नास्तिकों की उपेक्षा क्यों? जिस प्रकार उन्हे लाभ हो, अध्यात्म के सिद्धांत उनके सामने क्यों नही रखे जाने चाहिये। आशा है पाठक और जैन धर्म के विद्वान इस ओर ध्यान देंगे और आज की नई पीढ़ी के सामने इस रूप मे वे सत्य सिद्धान्त रखेंगे।

नई पीढ़ी को प्रभावित करने के लिये यह भी आवश्यक है कि हमारे यथाकथित धार्मिक लोग अपना धार्मिक आचरण अपने अधिकार के प्रतिकूल न करें। सांसारिक सब कार्य करते हुये, भोग भोगते हुये धन कमाने के पीछे भागते हुये भी मोह त्याग के नाम पर स्व स्त्री की उपेक्षा करे, उसके साथ दुर्व्यवहार करे, उसे विष बेल या इसी प्रकार के शब्दों से पुकारे, या मोह त्याग के नाम पर ही अपने पुत्र पुत्रियों की उपेक्षा कर उनको उचित शिक्षा से उदासीन हो जावें या इसी प्रकार की अन्य उदासीन प्रवृत्तियां अंगीकार कर ले तो यह वास्तविक मोह त्याग नही और इसके बुरे ही परिणाम होते है। जिस प्रकार अहिंसादि व्रतों का पालन साधु और गृहस्थ के लिये भिन्न-भिन्न सीमा का है और अमुक स्थिति में गृहस्थ के लिये हिंसा अनिवार्य हो जाती है (जैसे न्यायाधीश का अपराधी को दण्ड देना या स्त्रियों की सतीत्व रक्षा के लिये शत्रु पर प्रहार करना)। उसी प्रकार मोह त्याग भी प्रत्येक व्यक्ति के अधिकारानुसार होता है तब ही वह वास्तविक मोह त्याग है। स्त्री पुरुष का पारस्परिक प्रेम, उनके जीवन को उच्च बनाता है। संतान से प्रेम संतान पर सुप्रभाव डालता है। गृहस्थ अवस्था मे यह प्रेम उचित और प्रशस्त रूप मे हो तो परिवार को शुभ मार्ग की ओर प्रेरणा देता है और इसका अभाव परिवार के पतन का कारण बन जाता है। इसी प्रकार धन के मोह के त्याग के नाम पर अकर्मण्य, पुरुषार्थहीन, परमुखापेक्षी बनना और शरीर के मोह त्याग के नाम पर स्वास्थ्य की उपेक्षा करना, आत्मपतन का कारण बन जाता है। अधानुकरण से आत्मोन्नति न होकर आत्मा का

पतन होता है। आत्मा की उन्नति तो विवेक पूर्वक समझ कर अधिकार और शक्ति के अनुसार जीवन सुधार और दूषणों के त्याग में है। साधु के लिये जो आचरण भूषण है, गृहस्थ के लिये वे ही दूषण हो जाते हैं। और गृहस्थ का भूषण साधु के लिये दूषण है।

ऊंचे पद पर पहुँचे हुये गौतम गणधर भी भगवान् का मोह त्याग न सके जिससे भगवान् ने अपने मोक्ष के समय उन्हें दूर भेज दिया। भगवान् के निर्वाण के समाचार सुनने पर वे मोह त्याग सके और तब उन्होने परमसुख मोक्ष प्राप्त किया। इस उदाहरण से मोह त्याग के महत्व और उसकी कठिनता को समझकर पहले अप्रशस्त मोह का त्याग कर क्रमशः मोह त्याग के मार्ग पर आगे बढ़ने का सोचना चाहिये। कल्पित मोहत्याग के चक्कर में पड़कर स्वयं का पतन, आश्रितों का अहित और उच्च सिद्धान्तों को अवहेलना और धर्म की बदनामी का कारण नही बनना चाहिये। धर्म की प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक आचरण अच्छी तरह समझकर, विवेक पूर्ण योग्यतानुसार करना चाहिये जिससे जीवन में शांति का संचार हो। जो आचरण चित्त में शांति उत्पन्न करने में सहायक न हो तो समझना चाहिये कि कहीं भूल है।

इस उपसंहार का आशय यही है कि इस महान् ग्रंथ में बताई हुई बातो का महत्व समझा जावे, उसके आदर्श को सदा सामने रखा जावे, पर उनका पालन, अपने अधिकार और शक्ति अनुसार करते हुये प्रगति मार्ग पर चले न कि बिना सोचे समझे, भावरहित जड़रूप आचरण करने लग जावें।